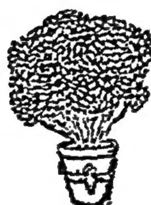
बाल-शिक्षा



जयदयाल गोयन्दका

मुद्रक तथा प्रकाशक
घनश्यामदास जालान
गीताप्रेस, गोरखपुर

सं० १९९४ प्रथम संस्करण ४२५०

मूल्य =) दो आना

पता—गीताप्रेस, गोरखपुर

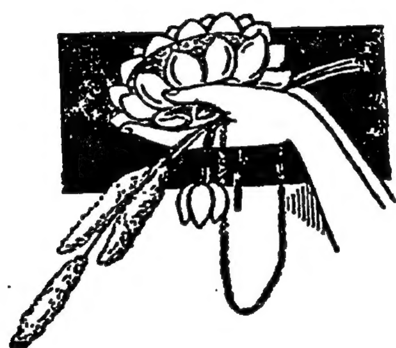
श्रीहरिः

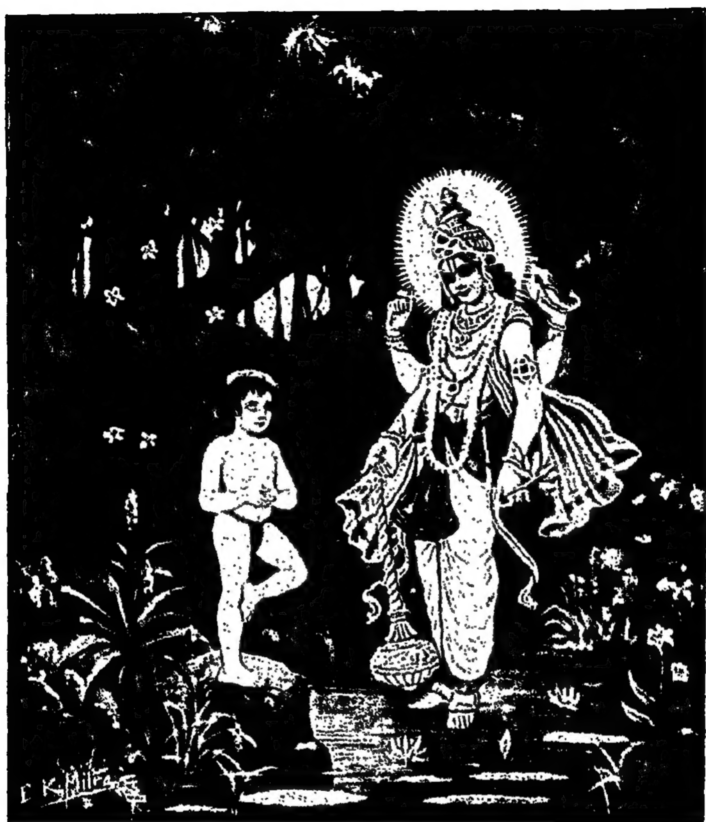
विषय-सूची



चित्र-सूची







ध्यानयोगी ध्रुव

॥ श्रीहरिः ॥

बाल-शिक्षा



मित्रोंकी प्रेरणासे आज बालकोंके हितार्थ उनके कर्तव्यके विषयमें कुछ लिखा जाता है। यह खयाल रखना चाहिये कि जबतक माता, पिता, आचार्य जीवित हैं या कर्तव्य और अकर्तव्यका ज्ञान नहीं है तबतक अवस्थामें बड़े होनेपर भी सब बालक ही हैं। बालक-अवस्थामें विद्या पढ़नेपर विशेष ध्यान देना चाहिये, क्योंकि बड़ी अवस्था होनेपर विद्याका अभ्यास होना बहुत ही कठिन है। जो बालक बाल्यावस्थामें विद्याका अभ्यास नहीं करता है, उसको आगे जाकर सदाके लिये पछताना पड़ता है। किन्तु ध्यान रखना चाहिये, बालकोंके लिये लौकिक विद्याके साथ-साथ धार्मिक शिक्षाकी भी बहुत ही आवश्यकता है, धार्मिक शिक्षाके बिना मनुष्यका जीवन पशुके समान है। धर्मज्ञानशून्य होनेके कारण आजकलके बालक प्रायः बहुत ही स्वेच्छाचारी होने लगे हैं। वे निरंकुशता, उच्छृङ्खलता, दुर्व्यसन, झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार, आलस्य, प्रमाद आदि अनेकों दोष और दुर्गुणोंके शिकार हो चले हैं जिससे उनके लोक-परलोक दोनों नष्ट हो रहे हैं।

उन्हें पाश्चात्य भाषा, वेष, सभ्यता अच्छे लगते हैं और ऋषियोंके त्यागपूर्ण चरित्र, धर्म एवं ईश्वरमें उनकी ग्लानि होने लगी है। यह सब पश्चिमीय शिक्षा और सभ्यताका प्रभाव है।

मेरा यह कहना नहीं कि पाश्चात्य शिक्षा न दी जाय किन्तु पहले धार्मिक शिक्षा प्राप्त करके, फिर पाश्चात्य विद्याका अभ्यास कराना चाहिये। ऐसा न हो सके तो धार्मिक शिक्षाके साथ-साथ पाश्चात्य विद्याका अभ्यास कराया जाय। यद्यपि विषका सेवन करना मृत्युको बुलाना है, किन्तु जैसे वही विष ओषधिके साथ अथवा ओषधियोंसे संशोधन करके खाया जाय तो वह अमृतका फल देता है। वैसे ही हमलोगोंको भी धार्मिक शिक्षाके साथ-साथ या धर्मके द्वारा संशोधन करके पाश्चात्य विद्याका भी अभ्यास करना चाहिये।

क्योंकि धर्म ही मनुष्यका जीवन, प्राण और इस लोक और परलोकमें कल्याण करनेवाला है। परलोकमें तो केवल एक धर्म ही साथ जाता है; स्त्री, पुत्र और सम्बन्धी आदि कोई भी वहाँ मदद नहीं कर सकते। अतएव अपने कल्याणके लिये मनुष्यमात्रको नित्य-निरन्तर धर्मका सञ्चय करना चाहिये। अब हमको यह विचार करना चाहिये कि वह धारण करनेयोग्य धर्म क्या वस्तु है।

ऋषियोंने सद्गुण और सदाचारके नामसे ही धर्मकी व्याख्या की है। भगवान्‌ने गीता अ० १६ में जो दैवीसम्पत्तिके

नामसे तथा अ० १७ में तपके नामसे जो कुछ कहा है सो धर्मको ही व्याख्या है। महर्षि पतञ्जलिने योगदर्शनके दूसरे पादमें इसी धर्मकी व्याख्या सूत्ररूपसे यम-नियमके नामसे की है। और मनुजीने भी संक्षेपमें ६।९२ में धर्मके दस लक्षण बतलाये हैं। इन सबको देखते हुए यह सिद्ध होता है कि सद्गुण और सदाचारका नाम ही धर्म है।

जो आचरण अपने और सारे संसारके लिये हितकर हैं यानी मन, वाणी और शरीरद्वारा की हुई जो उत्तम क्रिया है वही सदाचार है और अन्तःकरणमें जो पवित्र भाव हैं उन्हींका नाम सद्गुण है।

अब यह प्रश्न है कि ऐसे धर्मकी प्राप्ति कैसे हो? इसका यही उत्तर हो सकता है कि सत्पुरुषोंके संगसे ही इस धर्मकी प्राप्ति हो सकती है। क्योंकि वेद, स्मृति, सदाचार और अपनी रुचिके अनुसार परिणाममें हितकर—यह चार प्रकारका धर्मका साक्षात् लक्षण है। मनुजीने भी ऐसा ही कहा है—

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥

(मनु० २।१२)

सत्संगसे ही इन सबकी एकता हो सकती है। इनके परस्पर विरोध होनेपर यथार्थ निर्णय भी सत्संगसे ही होता है अतएव महापुरुषोंका संग करना चाहिये। याद रहे कि इतिहास

और पुराणोंमें भी श्रुति-स्मृतिमें बतलाये हुए धर्मकी ही व्याख्या है इसलिये उनमें दी हुई शिक्षा भी धर्म है।

अतएव मनुष्यको उचित है, प्राण भी जाय तब भी धर्मका त्याग न करे क्योंकि धर्मके लिये मरनेवाला उत्तम गतिको प्राप्त होता है।

गुरु गोविन्दसिंहके लड़कोंने धर्मके लिये ही प्राण देकर अचल कीर्ति और उत्तम गति प्राप्त की। मनुने भी कहा है—

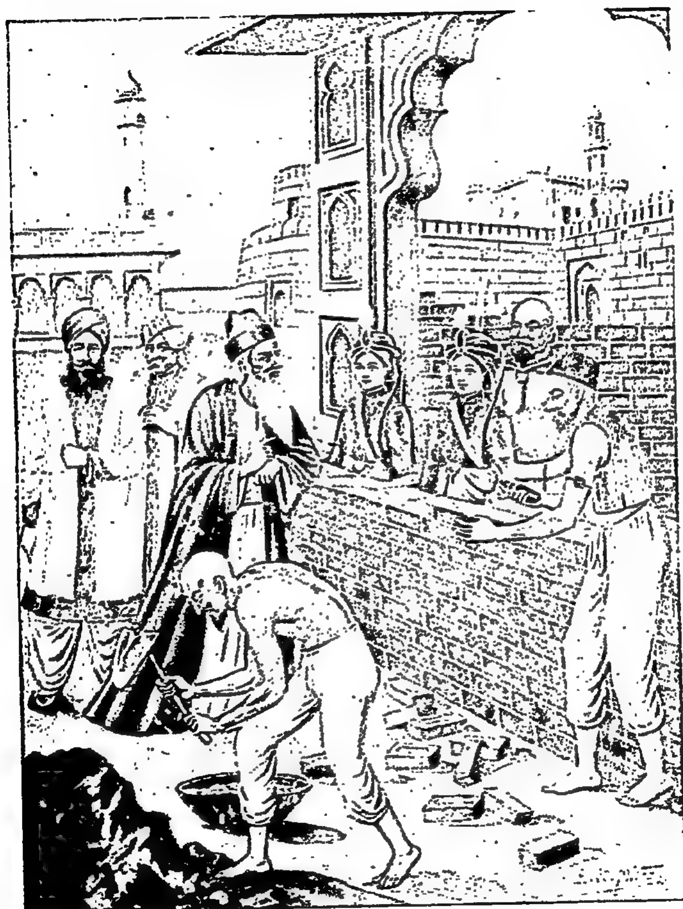
श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन्हि मानवः।
इह कीर्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमं सुखम्॥
(२।९)

'जो मनुष्य वेद और स्मृतिमें कहे हुए धर्मका पालन करता है वह इस संसारमें कीर्तिको और मरकर परमात्माकी प्राप्तिरूप अत्यन्त सुखको पाता है।'

इसलिये हे बालको! तुम्हारे लिये सबसे बढ़कर जो उपयोगी बातें हैं, उसपर तुमलोगोंको विशेष ध्यान देना चाहिये। यों तो बहुत-सी बातें हैं, किन्तु नीचे लिखी हुई छः बातोंको तो जीवन और प्राणके समान समझकर इनके पालन करनेके लिये विशेष चेष्टा करनी चाहिये।

वे बातें हैं—

सदाचार, संयम, ब्रह्मचर्यका पालन, विद्याभ्यास, माता-पिता और आचार्य आदि गुरुजनोंकी सेवा और ईश्वरकी भक्ति।



गुरु गोविन्दसिंहके लड़के धर्मके लिये प्राण दे रहे हैं ।

सदाचार

शास्त्रानुकूल सम्पूर्ण विहित कर्मोंका नाम सदाचार है। इस न्यायसे संयम, ब्रह्मचर्यका पालन, विद्याका अभ्यास, माता-पिता-आचार्य आदि गुरुजनोंकी सेवा एवं ईश्वरकी भक्ति इत्यादि सभी शास्त्रविहित होनेके कारण सदाचारके अन्तर्गत आ जाते हैं। किन्तु ये सब प्रधान-प्रधान बातें हैं इसलिये बालकोंके हितार्थ इनका कुछ विस्तारसे अलग-अलग विचार किया जाता है। इनके अतिरिक्त और भी बहुत-सी बातें बालकोंके लिये उपयोगी हैं जिनमेंसे यहाँ सदाचारके नामसे कुछ बतलायी जाती हैं।

बालकोंको प्रथम आचारकी ओर ध्यान देना चाहिये, क्योंकि आचारसे ही सारे धर्मोंकी उत्पत्ति होती है। महाभारत अनुशासनपर्व अ० १४९ में भीष्मजीने कहा है—

सर्वागमानामाचारः प्रथमं परिकल्प्यते।
आचारप्रभवो धर्मो धर्मस्य प्रभुरच्युतः॥

'सब शास्त्रोंमें सबसे पहले आचारकी ही कल्पना की जाती है, आचारसे ही धर्म उत्पन्न होता है और धर्मके प्रभु श्रीअच्युत भगवान् हैं।'

इस आचारके मुख्य दो भेद हैं—शौचाचार और सदाचार। जल और मृत्तिका आदिसे शरीरको तथा भोजन, वस्त्र, घर और वर्तन आदिको शास्त्रानुकूल साफ रखना शौचाचार है।

सबके साथ यथायोग्य व्यवहार एवं शास्त्रोक्त उत्तम कर्मोंका आचरण करना सदाचार है । इससे दुर्गुण और दुराचारोंका नाश होकर बाहर और भीतरकी पवित्रता होती है तथा सद्गुणोंका आविर्भाव होता है ।

प्रथम प्रातःकाल सूर्योदयसे पूर्व ही उठकर शौच*-स्नान करना चाहिये । फिर नित्यकर्म करके बड़ोंके चरणोंमें प्रणाम करना चाहिये । इसके बाद शरीरकी आरोग्यता एवं बलकी वृद्धिके लिये पश्चिमोत्तान, शीर्षासन, विपरीतकरणी आदि आसन एवं व्यायाम करना चाहिये । फिर दुग्धपान करके विद्याका अभ्यास करें । आसन और व्यायाम सायंकाल करनेकी इच्छा हो तो बिना दुग्धपान किये ही विद्याभ्यास करें ।

विद्या पढ़नेके बाद दिनके दूसरे पहरमें ठीक समयपर आचमन करके सावधानीके साथ पवित्र और सात्त्विक भोजन करें ।

यह खयाल रखना चाहिये कि भूखसे अधिक भोजन कभी न किया जाय । मनुजी कहते हैं—

---

* मलत्याग करके तीन बार मृत्तिकासहित जलसे गुदा धोवे फिर जबतक दुर्गन्ध एवं चिकनाई रहे तबतक केवल जलसे धोवे । मल या मूत्रके त्याग करनेके बाद उपस्थको भी जलसे धोवे । मल त्यागनेके बाद मृत्तिका लेकर दस बार बायें हाथको और सात बार दोनों हाथोंको मिलाकर धोना चाहिये । जलसे मृत्तिकासहित पैरोंको एक बार तथा पात्रको तीन बार धोना चाहिये । हाथ और पैर धोनेके उपरान्त मुखके सारे छिद्रोंको धोकर दातुन करके कम-से-कम बारह कुल्ले करने चाहिये ।

उपस्पृश्य द्विजो नित्यमन्नमद्यात्समाहितः।
भुक्त्वा चोपस्पृशेत्सम्यगद्भिः खानि च संस्पृशेत्॥
(२।५३)

'द्विजको चाहिये कि सदा आचमन करके ही सावधान हो अन्नका भोजन करे और भोजनके अनन्तर भी अच्छी प्रकार आचमन करे और छः छिद्रोंका (अर्थात् नाक, कान और नेत्रोंका) जलसे स्पर्श करे।'

पूजयेदशनं नित्यमद्याच्चैतदकुत्सयन्।
दृष्ट्वा हृष्येत्प्रसीदेच्च प्रतिनन्देच्च सर्वशः॥
(२।५४)

'भोजनका नित्य आदर करे और उसकी निन्दा न करता हुआ भोजन करे, उसे देख हर्षित होकर प्रसन्नता प्रकट करे। और सब प्रकारसे उसका अभिनन्दन करे।'

पूजितं ह्यशनं नित्यं बलमूर्जं च यच्छति।
अपूजितं तु तद्भुक्तमुभयं नाशयेदिदम्॥
(२।५५)

'क्योंकि नित्य आदरपूर्वक किया हुआ भोजन बल और वीर्यको देता है और अनादरसे खाया हुआ अन्न उन दोनोंका नाश करता है।'

अनारोग्यमनायुष्यमस्वर्ग्यं चातिभोजनम्।
अपुण्यं लोकविद्विष्टं तस्मात्तत्परिवर्जयेत्॥
(२।५७)

'जो मनुष्य न तो प्रातःसन्ध्योपासन करता है और न सायंसन्ध्योपासन करता है वह शूद्रके समान सम्पूर्ण द्विज-कर्मोंसे अलग कर देनेके योग्य है।'

नैत्यके नास्त्यनध्यायो ब्रह्मसत्रं हि तत्स्मृतम्।
(२।१०६)

'नित्यकर्ममें अनध्याय नहीं है क्योंकि उसे ब्रह्मयज्ञ कहा है।'

श्रुति और स्मृतियोंमें गायत्रीजपका बड़ा माहात्म्य बतलाया है। गायत्रीका जप स्नान करके पवित्र होकर ही करना चाहिये—चलते-फिरते नहीं। गायत्रीका नित्य एक सहस्र जप करनेसे मनुष्य एक महीनेमें पापोंसे छूट जाता है। तीन वर्षतक करनेसे ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है, ऐसा मनुने कहा है—

एतदक्षरमेतां च जपन्व्याहृतिपूर्विकाम्।
सन्ध्ययोर्वेदविद्विप्रो वेदपुण्येन युज्यते॥
(२।७८)

'इस (ओम्) अक्षर और इस व्याहृतिपूर्वक (सावित्री) को दोनों सन्ध्याओंमें जपता हुआ वेदज्ञ ब्राह्मण वेदपाठके पुण्य-फलका भागी होता है।'

सहस्रकृत्वस्त्वभ्यस्य बहिरेतत्त्रिकं द्विजः।
महतोऽप्येनसो मासात्त्वचेवाहिर्विमुच्यते॥
(२।७९)

'ब्राह्मण इन तीनोंका यानी प्रणव, व्याहृति और गायत्रीका बाहर (एकान्त स्थानमें) सहस्र वार जप करके एक मासमें बड़े भारी पापसे भी वैसे ही छूट जाता है जैसे साँप केंचुलीसे।'

ओङ्कारपूर्विकास्तिस्रो महाव्याहृतयोऽव्ययाः।
त्रिपदा चैव सावित्री विज्ञेयं ब्रह्मणो मुखम्॥
(२।८१)

'जिनके पहले ओंकार है ऐसी अविनाशिनी (भूः भुवः स्वः) तीन महाव्याहृति और तीन पदवाली सावित्रीको ब्रह्मका मुख जानना चाहिये।'

योऽधीतेऽहन्यहन्येतास्त्रीणि वर्षाण्यतन्द्रितः।
स ब्रह्म परमभ्येति वायुभूतः खमूर्तिमान्॥
(२।८२)

'जो मनुष्य आलस्य छोड़कर नित्यप्रति तीन वर्षतक गायत्री-का जप करता है वह पवनरूप और आकाशरूप होकर परब्रह्मको प्राप्त कर लेता है।'

किन्तु खयाल रखना चाहिये—क्षत्रिय और वैश्यको तो बात ही क्या है जबतक यज्ञोपवीत न हो, तबतक वेदका अभ्यास, वेदोक्त हवन और सन्ध्या-गायत्री-जप आदि वेदोक्त क्रियाएँ ब्राह्मणको भी नहीं करनी चाहिये; क्योंकि बिना यज्ञोपवीतके उनको भी करनेका अधिकार नहीं है। करें तो प्रायश्चित्तके भागी होते हैं। अतएव ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंको यज्ञोपवीत अवश्य लेना चाहिये।

यदि व्रात्य* (पतित) संज्ञा हो गयी हो तो भी शास्त्रविधिके अनुसार प्रायश्चित्त कराकर यज्ञोपवीत लेना चाहिये। उपनयनका काल मनुजीने इस प्रकार बतलाया है—

गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम्।
गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः॥
(२ । ३६)

'ब्राह्मणका उपनयन (जनेऊ) गर्भसे आठवें वर्षमें, क्षत्रियका गर्भसे ग्यारहवेंमें और वैश्यका गर्भसे बारहवें वर्षमें करना चाहिये।'

आ षोडशाद्ब्राह्मणस्य सावित्री नातिवर्तते।
आ द्वाविंशात्क्षत्रबन्धोरा चतुर्विंशतेर्विशः॥
(२ । ३८)

'सोलह वर्षतक ब्राह्मणके लिये, बाईस वर्षतक क्षत्रियके लिये और चौबीस वर्षतक वैश्यके लिये सावित्रीके कालका अतिक्रमण नहीं होता अर्थात् इस अवस्थातक उनका उपनयन (जनेऊ) हो सकता है।'

---

* अत ऊर्ध्वं त्रयोऽप्येते यथाकालमसंस्कृताः।
सावित्रीपतिता व्रात्या भवन्त्यार्यविगर्हिताः॥ (२ । ३९)

यदि ऊपर बताये हुए समयपर इनका संस्कार न हो तो उस कालके अनन्तर ये तीनों सावित्रीसे पतित होनेके कारण शिष्टजनोंसे निन्दित और व्रात्यसंज्ञक हो जाते हैं।

द्विजातियोंके लिये यज्ञोपवीतका कर्म और काल बतलाकर अब सभी बालकोंके लिये आचरण करनेयोग्य बातें बतलायी जाती हैं।

हे बालको ! संसारमें सबसे बढ़कर प्रेम है, प्रेम साक्षात् परमात्माका स्वरूप है, इसलिये जहाँ प्रेम है वहीं सुख और शान्तिका साम्राज्य है। वह प्रेम स्वार्थत्यागपूर्वक दूसरोंकी आत्माको सुख पहुँचानेसे होता है। इसलिये माता, पिता, गुरुजन और सहपाठियोंकी तो बात ही क्या है, सभीके साथ सदा-सर्वदा सच्चे, हितकर विनययुक्त वचन बोलकर एवं मनसे, वाणीसे, शरीरसे जिस किसी प्रकारसे दूसरोंका हित हो ऐसा प्रयत्न तुमलोगोंको करना चाहिये।

दूसरोंकी वस्तुको चुराना-छीनना तो दूर रहा किन्तु वे खुशीसे तुम्हें दें तो भी अपने स्वार्थके लिये न लेकर विनय और प्रिय वचनसे उन्हें सन्तोष कराना चाहिये, यदि न लेनेपर उन्हें कष्ट होता हो एवं प्रेममें बाधा आती हो तो आवश्यकतानुसार ले भी ले तो कोई आपत्ति नहीं।

दूसरेके अवगुणोंकी तरफ खयाल न करके उनके गुणोंको ग्रहण करना चाहिये। किसीकी भी निन्दा, चुगली तो करनी ही नहीं, इससे उसका या अपना किसीका भी हित नहीं है। आवश्यकता हो तो सच्ची प्रशंसा कर सकते हो।

मान, बड़ाई, प्रतिष्ठाकी इच्छा तो कभी करनी ही नहीं,

किन्तु अपने-आप प्राप्त होनेपर भी कल्याणमें बाधक होनेकें कारण मनसे स्वीकार न करके मनमें दुःख या संकोच करना चाहिये ।

परेच्छा या दैवेच्छासे मनके प्रतिकूल पदार्थोंके प्राप्त होनेपर भी ईश्वरका भेजा हुआ पुरस्कार मानकर आनन्दित होना चाहिये। ऐसा न हो सके तो अपने पापका फल समझकर ही सहन करना उचित है।

बड़ोंकी सभी आज्ञा पालनीय है किन्तु जिसके पालनसे उन्हींका या और किसीका अनिष्ट हो या जिसके कारण ईश्वरकी भक्तिमें विशेष बाधा आती हो वहाँ उपराम हो सकते हैं ।

गुरुजनोंकी तो बात ही क्या है, वृथा तर्क और विवाद तो किसीके साथमें भी कभी न करें ।

कितनी भी आपत्ति आ जाय, पर धैर्य और निर्भयताके साथ सबको सहन करना चाहिये क्योंकि भारी-से-भारी आपत्ति आनेपर भी निर्भयताके साथ उसे सहन करनेसे आत्मबलकी वृद्धि होती है। ऐसा समझकर तुमलोगोंको आपत्तिमें भी धैर्य और धर्मको नहीं त्यागना चाहिये ।

कोई भी उत्तम कर्म करके मनमें अभिमान या अहंकार नहीं लाना चाहिये किन्तु धन, विद्या, बल और ऐश्वर्य आदिके प्राप्त होनेपर स्वाभाविक ही चित्तमें जो दर्प, अहंकार और अभिमान आता है उसको मृत्युके समान समझकर सबके साथ विनययुक्त, दीनतासे बर्ताव करना चाहिये । इस प्रकार करनेसे वे दुर्गुण नहीं आ सकते ।

गीता-रामायणादि धार्मिक ग्रन्थोंका श्रद्धाभक्तिपूर्वक विचार करनेके लिये भी अवश्य कुछ समय निकालना चाहिये।

उपर्युक्त सदाचारका पालन करनेसे मनुष्यके सारे दुर्गुण और दुराचारोंका नाश हो जाता है। तथा उसमें स्वाभाविक ही क्षमा, दया, शान्ति, तेज, संतोष, समता, ज्ञान, श्रद्धा, प्रेम, विनय, पवित्रता, शीतलता, शम, दम आदि बहुत-से गुणोंका प्रादुर्भाव हो जाता है। क्योंकि यह नियम है कि बीज और वृक्षकी तरह सद्‌गुणसे सदाचारकी एवं सदाचारसे सद्‌गुणोंकी वृद्धि होती है और दुर्गुण एवं दुराचारोंका नाश होता है।*

इसलिये बालकोंको उचित है कि सद्‌गुणोंकी वृद्धि एवं सदाचारके पालनके लिये तत्परताके साथ चेष्टा करें। इस प्रकार करनेसे इस लोक और परलोकमें सुख और शान्ति मिल सकती है।

संयम

मन, बुद्धि और इन्द्रियोंके संयमकी बहुत ही आवश्यकता है, क्योंकि बिना संयम किये हुए ये मनुष्यका पतन कर ही डालते हैं। भगवान्‌ने भी कहा है—

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥
(गीता २। ६०)

'हे अर्जुन! जिससे कि यत्न करते हुए बुद्धिमान् पुरुषके भी मनको यह प्रमथन स्वभाववाली इन्द्रियाँ बलात्कारसे हर लेती हैं।'

---

* यहाँ सद्‌गुणोंको बीज और सदाचारको वृक्षस्थानीय समझना चाहिये।

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥
(गीता २।६७)

'जैसे जलमें वायु नावको हर लेता है वैसे ही विषयोंमें विचरती हुई इन्द्रियोंके बीचमें जिस इन्द्रियके साथ मन रहता है वह (एक ही इन्द्रिय) इस (अयुक्त) पुरुषकी बुद्धिको हरण कर लेती है।'

मनुजीने भी कहा है—

इन्द्रियाणां तु सर्वेषां यद्येकं क्षरतीन्द्रियम्।
तेनास्य क्षरति प्रज्ञा दृतेः पादादिवोदकम्॥
(२।९९)

'सब इन्द्रियोंमेंसे जो एक भी इन्द्रिय विचलित हो जाती है उसीसे इस मनुष्यकी बुद्धि ऐसे जाती रहती है जैसे एक भी छिद्र हो जानेसे वर्तनका समस्त जल निकल जाता है।'

अन्तःकरणके संयमका नाम शम, और इन्द्रियोंके संयमका नाम दम है, इनको प्रायः स्मृतिकारोंने धर्मका अंग माना है। गीतामें शम और दमको ब्राह्मणके स्वाभाविक कर्म और वेदान्तमें इनको साधनके अंग माना है।

वशमें किये हुए मन-इन्द्रिय मित्र, और नहीं वशमें किये हुए शत्रुके समान हैं; मुक्ति और बन्धनमें भी प्रधान हेतु यही हैं। क्योंकि वशमें करनेपर ये मुक्तिके देनेवाले, नहीं वशमें किये हुए दुःखदायी बन्धनके हेतु होते हैं। जल जैसे स्वभावसे नीचेकी ओर

जाता है वैसे ही इन्द्रियगण आसक्तिके कारण स्वभावसे विषयोंकी ओर जाते हैं। विषयोंके संसर्गसे दुराचार और दुर्गुणोंकी वृद्धि होकर मनुष्यका पतन हो जाता है। मनुजी भी कहते हैं—

इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयम्।
संनियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति॥
(२।९३)

'मनुष्य इन्द्रियोंमें आसक्त होकर निःसन्देह दोषको प्राप्त होता है और उनको ही रोककर उस संयमसे सिद्धि प्राप्त कर लेता है।'

इससे यह सिद्ध हुआ कि इन्द्रियोंके साथ विषयोंका संसर्ग ही सारे अनर्थोंका मूल है। इसलिये हे बालको! इन सब विषय-भोगोंको नाशवान्, क्षणभङ्गुर, दुःखरूप समझकर यथाशक्ति त्याग करनेकी चेष्टा करनी चाहिये।

बहुत-से भाई कहते हैं कि विषयोंके भोगते-भोगते इच्छाकी पूर्ति अपने-आप ही हो जायगी, किन्तु उनका यह कहना ठीक नहीं। क्योंकि मनुजीने कहा है—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥
(२।९४)

'नाना प्रकारके भोगोंकी इच्छा विषयोंके उपभोगसे कभी शान्त नहीं होती बल्कि घृतसे अग्निके समान बार-बार अधिक ही बढ़ती जाती है।'

कितने ही लोग विषयोंके भोगनेमें ही सुख और शान्ति मानते हैं किन्तु यह उनका भ्रम है, जैसे पतंगोंको प्रज्वलित दीपक आदिमें सुख और शान्ति प्रतीत होती है, पर वास्तवमें वह दीपक उनका नाशक है। इसी प्रकार संसारके विषय-भोगोंमें मोहवश मनुष्यको क्षणिक शान्ति और सुख प्रतीत होता है किन्तु वास्तवमें विषयोंका संसर्ग उसका नाशक यानी पतन करनेवाला है। इसलिये विवेक, विचार, भय या हठसे किसी भी प्रकार हो मन-इन्द्रियोंको विषयोंसे हटाकर वशमें करनेके लिये कटिबद्ध होकर प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये। मनुने कहा है—

इन्द्रियाणां विचरतां विषयेष्वपहारिषु।
संयमे यत्नमातिष्ठेद्विद्वान्यन्तेव वाजिनाम्॥
(२।८८)

'पण्डितको चाहिये कि मनको हरनेवाले विषयोंमें विचरनेवाली इन्द्रियोंके रोकनेमें ऐसा यत्न करे कि जैसा घोड़ोंके रोकनेमें सारथी करता है।'

वशे कृत्वेन्द्रियग्रामं संयम्य च मनस्तथा।
सर्वान्संसाधयेदर्थानक्षिण्वन्योगतस्तनुम्॥
(२।१००)

'मनुष्यको चाहिये कि इन्द्रियसमूहको वशमें करके, तथा मनको रोककर योगसे शरीरको पीड़ा न देते हुए धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि समस्त पुरुषार्थोंको सिद्ध करे।'

इसलिये हे बालको ! प्रथम वाणी आदि इन्द्रियोंका, फिर मनका संयम करना चाहिये। (गीता अ० ३ श्लोक ४१–४३)।

जो मनुष्य अपनी निन्दा करे या गाली दे उसके बदलेमें शान्तिदायक सत्य, प्रिय और हितकर कोमल वचन कहना चाहिये। क्योंकि यदि वह अपनी सच्ची निन्दा करता है तो उससे तुम्हारी कोई हानि नहीं है बल्कि तुम्हारे गुणोंको ढकता है यह उपकार ही है। यदि कोई तुम्हारे साथ मार-पीट करे या तुम्हारी कोई चीज चुरा ले या जबरदस्ती छीन ले अथवा किसी भी प्रकारसे तुम्हारे साथ अनुचित व्यवहार करे तो तुम्हें उसे भी सहन करना चाहिये। अपने पूर्वके किये हुए अपराधके फलस्वरूप भगवान्का ही किया हुआ विधान समझकर चित्तमें प्रसन्न होना चाहिये क्योंकि बिना अपराध किये और बिना भगवान्की प्रेरणाके कोई भी प्राणी किसीका अनिष्ट नहीं कर सकता।

सहन करनेसे धीरता, वीरता, गम्भीरता और आत्मबलकी वृद्धि भी होती है। अवश्य ही क्षमा-बुद्धिसे सहन होना चाहिये। कायरता या डरसे नहीं। आत्मरक्षाके लिये या अन्यायका विरोध करनेके लिये आवश्यकतानुसार उचित प्रतीकार करना भी दोषकी बात नहीं है। किन्तु इस बातका विशेष ध्यान रखना चाहिये कि कहीं किसीका अनिष्ट न हो जाय। मनुने कहा है—

नारुन्तुदः स्यादार्तोऽपि न परद्रोहकर्मधीः।
ययास्योद्विजते वाचा नालोक्यां तामुदीरयेत्॥
(२।१६१)

'मनुष्यको चाहिये कि दूसरेके द्वारा दुःख दिये जानेपर या दैवयोगसे कोई दुःख प्राप्त हो जानेपर भी मनमें दुखी न हो तथा दूसरेसे द्रोह करनेमें कभी मन न लगावे। अपनी जिस वाणीसे किसीको दुःख हो ऐसी लोकविरुद्ध वाणी कभी न बोले।'

सम्मानाद्ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव।
अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा॥
(२। १६२)

'ब्राह्मणको चाहिये कि सम्मानसे विषके समान नित्य डरता रहे (क्योंकि अभिमान बढ़नेसे बहुत हानि है) और अमृतके समान सदा अपमानकी इच्छा करता रहे अर्थात् तिरस्कार होनेपर खेद न करे।'

सुखं ह्यवमतः शेते सुखं च प्रतिबुध्यते।
सुखं चरति लोकेऽस्मिन्नवमन्ता विनश्यति॥
(२। १६३)

'अपमान सह लेनेवाला मनुष्य सुखसे सोता है, सुखसे जागता है और इस संसारमें सुखसे विचरता है, परन्तु दूसरोंका अपमान करनेवाला नष्ट हो जाता है।'

इसलिये किसीका अनिष्ट करना, किसीके साथ वैर करना या किसीमें द्वेष या घृणा करना, अपने आपका पतन करना है।

बालकका जबतक विवाह नहीं होता तबतक वह गुरुके पास या माता-पिताके पास कहीं रहे वह ब्रह्मचारी ही है।

ब्रह्मचारीको लहसुन, प्याज, मदिरा, मांस, भाँग, तंबाकू, बीड़ी, सिगरेट, गाँजा आदि घृणित एवं मादक पदार्थोंका सेवन करना तो दूर रहा इनका तो स्मरण भी नहीं करना चाहिये।

अतर, फुलेल, तैल, पुष्पोंकी माला, आँखोंका अञ्जन, बालोंका शृङ्गार, नाचना, गाना, बजाना, स्त्रियोंका दर्शन-भाषण-स्पर्श एवं सिनेमा-थियेटर आदि खेल-तमाशोंका देखना इन सबको सारे अनर्थोंका मूल कामोद्दीपन करनेवाला वीर्यनाशक समझकर त्याग कर देना चाहिये।

झूठ, कपट, छल, छिद्र, जुआ, झगड़ा, विवाद, निन्दा, चुगली, हिंसा, चोरी, जारी आदिको महापाप समझकर इन सबका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये।

काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग-द्वेष, ईर्ष्या, वैर, अहंकार, दम्भ, दर्प, अभिमान और घृणा आदि दुर्गुणोंको सारे पाप और दुःखोंका मूलकारण समझकर हृदयसे हटानेके लिये विशेष प्रयत्नशील रहना चाहिये।

बालक एवं ब्रह्मचारियोंके लिये मनुजी कहते हैं—

वर्जयेन्मधु मांसं च गन्धं माल्यं रसान्स्त्रियः।
शुक्तानि यानि सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम्॥
(२।१७७)

'शहद, मांस, सुगन्धित वस्तु, फूलोंके हार, रस, स्त्री, सिरकेकी भाँति बनी हुई समस्त मादक वस्तुएँ और प्राणियोंकी हिंसा इन सबको त्याग दें।'

द्यूतं च जनवादं च परिवादं तथानृतम्।
स्त्रीणां च प्रेक्षणालम्भमुपघातं परस्य च॥
(२।१७९)

'जुआ, गाली-गलौज, निन्दा तथा झूठ एवं स्त्रियोंको देखना, आलिङ्गन करना और दूसरेका तिरस्कार करना' (इन सबका भी ब्रह्मचारीको त्याग कर देना चाहिये।)

अभ्यङ्गमञ्जनं चाक्ष्णोरुपानच्छत्रधारणम्।
कामं क्रोधं च लोभं च नर्तनं गीतवादनम्॥
(२।१७८)

'उबटन लगाना, आँखोंका आँजना, जूते और छत्र धारण करना, एवं काम, क्रोध, लोभ और नाचना, गाना, बजाना इन सबको भी त्याग दें।'

सोडावाटर, बर्फ, बिस्कुट, डाक्टरी दवा, होटलका भोजन आदि भी उच्छिष्ट एवं महान् अपवित्र हैं* इसलिये धर्ममें बाधक समझकर इनका त्याग करना चाहिये। ऐसे भोजनको भगवान्‌ने तामसी बतलाया है।

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्॥
(गीता १७।१०)

* प्रायः सोडावाटर और बर्फ उच्छिष्ट, बिस्कुटमें मुर्गीका अण्डा, डाक्टरी औषधमें मद्य, मांस आदिका मिश्रण, होटलके भोजनमें मद्य-मांसादिका संसर्ग यह सब ही महान् अपवित्र हैं।

'जो भोजन अधपका, रसरहित और दुर्गन्धयुक्त एवं बासी, (और) उच्छिष्ट है तथा जो अपवित्र है वह (भोजन) तामस पुरुषको प्रिय होता है ।'

उपर्युक्त दुर्गुण और दुराचारोंको न त्यागनेवाले पुरुषके यज्ञ, दान, तप, नियम आदि उत्तम कर्म सफल नहीं होते बल्कि दुखी होते हैं । मनुजी कहते हैं—

वेदास्त्यागश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च ।
न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित् ॥
(२ । ९७)

'दुष्टस्वभाववाले मनुष्यके वेद, दान, यज्ञ, नियम और तप ये सब कभी भी सिद्धिको प्राप्त नहीं होते हैं, अर्थात् इन सबका उत्तम फल उसे नहीं मिलता ।'

दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः ।
दुःखभागी च सततं व्याधितोऽल्पायुरेव च ॥
(मनु० ४ । १५७)

'दुराचारी पुरुष सदा ही लोकमें निन्दित, दुःख भोगनेवाला, रोगी और अल्पायु होता है ।'

अतएव दुर्गुण और दुराचारोंका त्याग करके मन और इन्द्रियोंको विषय-भोगोंसे हटाकर अपने स्वाधीन करना चाहिये । मन और इन्द्रियोंका संयम होनेसे राग-द्वेष, हर्ष-विषादका नाश सहजमें ही हो सकता है । जब प्रिय और अप्रियकी प्राप्तिमें

हर्ष-शोक नहीं होता तथा मन और इन्द्रियोंके साथ इन्द्रियोंका संसर्ग होनेपर भी चित्तमें किसी प्रकारका विकार उत्पन्न नहीं होता तब समझना चाहिये कि सच्चा जितेन्द्रिय 'संयमी' पुरुष है। मनुजी भी कहते हैं—

श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा च यो नरः।
न हृष्यति ग्लायति वा स विज्ञेयो जितेन्द्रियः॥
(२।९८)

'जो मनुष्य सुनकर, छूकर, देखकर, खाकर और सूँघकर न तो प्रसन्न होता है और न उदास होता है, उसे जितेन्द्रिय जानना चाहिये।'

मन और इन्द्रियोंके वशमें होनेके बाद राग-द्वेषसे रहित होकर विषयोंका संसर्ग किया जाना ही लाभदायक है। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥
(२।६४)

'स्वाधीन अन्तःकरणवाला (पुरुष) रागद्वेषसे रहित, अपने वशमें की हुई इन्द्रियोंद्वारा विषयोंको भोगता हुआ अन्तःकरणकी प्रसन्नता अर्थात् स्वच्छताको प्राप्त होता है।'

ब्रह्मचर्य

जिसने सब प्रकारसे मैथुनका त्याग कर दिया है* वही ब्रह्मचारीके नामसे प्रसिद्ध है। क्योंकि सब प्रकारसे वीर्यकी रक्षा करनारूप ब्रह्मचर्यका पालन ब्रह्म (परमात्मा) की प्राप्तिमें मुख्य हेतु है। ऊपर बतलाये हुए व्रतका आचरण करनेवाला चाहे गुरुके गृहमें वास करो या अपने माता-पिताके घरपर रहो वह ब्रह्मचारी ही है। हे बालको ! ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करना भी तुम्हारे लिये सबसे बढ़कर मुख्य कर्तव्य है। इसीसे बल, बुद्धि, तेज, सद्गुण और सदाचारकी वृद्धि होकर परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है।

इसलिये तुमलोगोंको स्त्रियोंके संगसे बहुत सावधान रहना चाहिये। स्त्रियोंके दर्शन, भाषण, स्पर्श और चिन्तनकी तो बात ही क्या है उनकी मूर्ति एवं चित्र भी ब्रह्मचारीको नहीं देखने चाहिये। यदि अत्यन्त आवश्यकता पड़ जाय तो नीची दृष्टिसे अपने चरणोंकी तरफ या जमीनको देखते हुए उनको अपनी माँ और बहिनके समान समझकर बातचीत करे। किन्तु एकान्तमें तो माता और बहिनके साथमें भी न रहे। क्योंकि स्त्रियोंका

---

* स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्।
संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च॥

स्त्रीका स्मरण, स्त्रीसम्बन्धी बातचीत, स्त्रियोंके साथ खेलना, स्त्रीको देखना, स्त्रीसे गुप्त भाषण करना, स्त्रीसे मिलनेका संकल्प करना, चेष्टा करना, और स्त्रीसंग करना ये आठ प्रकारके मैथुन माने गये हैं।

संसर्ग पाकर बुद्धिमान् पुरुषकी भी बुद्धि भ्रष्ट होकर इन्द्रियाँ विचलित हो जाती हैं। मनुने भी कहा है—

> मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्।
> बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति॥
> (२। २१५)

'मनुष्यको चाहिये कि माता, बहिन या लड़कीके साथ भी एकान्तमें न बैठे, क्योंकि इन्द्रियोंका समूह बड़ा बलवान् है, अतः वह पण्डितको भी अपनी ओर खींच लेता है।'

महावीर हनुमान्का नाम ब्रह्मचर्यव्रतके पालनमें प्रसिद्ध है। रामायणके पाठक उनकी जीवनीसे भी परिचित हैं। हनुमान् एक अलौकिक वीर पुरुष थे। हनुमान्ने समुद्रको लाँघ, रावण-पुत्र अक्षयकुमारको मार, लङ्काको जला, श्रीजानकीजीका समाचार श्रीरामके पास पहुँचाया। और लक्ष्मणके शक्तिबाण लगनेपर सुषेण वैद्यकी बतलायी हुई बूटीको न पहचाननेके कारण बूटीसहित पहाड़को उखाड़कर सूर्योदयके पूर्व ही लङ्कामें ला उपस्थित किया। किष्किन्धा और सुन्दरकाण्डको देखनेसे मालूम होता है कि हनुमान् केवल वीर ही नहीं, सदाचारी, विद्वान्, ऋद्धि-सिद्धिके ज्ञाता और भगवान्के महान् भक्त थे। जिनकी महिमा गाते हुए स्वयं भगवान्ने कहा है कि हे हनुमान्! तुमने जो हमारी सेवा की है, उसका प्रत्युपकार न करनेके कारण मैं लज्जित हूँ।

प्रत्युपकार करौं का तोरा। सन्मुख होइ न सकत मन मोरा॥

भारतवासी आज भी उनको नैष्ठिक ब्रह्मचारी मानकर पूजते हैं, भक्तगण स्तुति गाते हैं, व्यायाम करनेवाले अपने दलका नाम 'महावीरदल' रखकर बल बढ़ाना चाहते हैं। वास्तवमें मनुष्य महावीर हनुमान्‌के जिस गुणका स्मरण करता है आंशिकरूपसे उसमें उस गुणका आविर्भाव-सा हो जाता है।

राजकुमार वीर श्रीलक्ष्मणजीके विषयमें तो कहना ही क्या है, वे तो साक्षात् भगवान्‌के सेवक एवं शेषजीके अवतार थे। उन्होंने तो श्रीरामजीके साथ अवतार लेकर लोगोंके हितार्थ लोक-मर्यादाके लिये आदर्श व्यवहार किया। वे सदाचारी, गुणोंकी खान, भगवान्‌के अनन्यभक्त, एक महान् वीर पुरुषके नामसे प्रसिद्ध थे। उन्होंने जिसको इन्द्र भी न जीत सका था उस वीर मेघनादको भी मार डाला। काम पड़नेपर कालसे भी नहीं डरते थे। यह सब ब्रह्मचर्यव्रतका ही प्रभाव बतलाया गया।

गङ्गापुत्र पितामह भीष्मका नाम आपलोगोंने सुना ही होगा, ये बड़े तेजस्वी, शीलवान्, अखण्ड ब्रह्मचर्यका पालन करनेवाले, ईश्वरके भक्त और बड़े धर्मात्मा वीर पुरुष थे। उन्होंने अपने पिताकी सेवाके लिये क्षणमात्रमें काञ्चन और कामिनीका सदाके लिये त्याग कर दिया और उसके प्रतापसे उन्होंने कालको भी जीत लिया। एक समय देवव्रत (पितामह भीष्म) ने अपने पिता शान्तनुको शोकाकुल देखकर उनसे शोकका कारण पूछा, उन्होंने पुत्रवृद्धिके लिये विवाह करनेकी इच्छा प्रकट की। इस प्रकार अपने पिताके शोकका कारण जानकर बुद्धिमान् देवव्रतने

अपने पिताके बूढ़े मन्त्रीके पास जाकर उनसे भी अपने पिताके शोकका कारण पूछा—तब मन्त्रीने धीवरराजकी (पालिता) कन्याके सम्बन्धके विषयकी सब बातें कहीं और धीवरराजकी इच्छाका वृत्तान्त भी सुनाया । तब देवव्रत बहुत-से क्षत्रियोंको साथ लेकर उस धीवरराजके पास गये और अपने पिताके लिये उस धीवरराजसे कन्या माँगी । धीवरराजने देवव्रतका विधिपूर्वक सत्कार किया और इस प्रकार कहा—हे देवव्रत ! अपने पिताके आप बड़े पुत्र हैं और आप राजा होनेके योग्य हैं किन्तु मैं कन्याका पिता हूँ, इसलिये आपसे कुछ कहना चाहता हूँ, बात यह है कि इस कन्यासे जो पुत्र उत्पन्न हो, वही राजगद्दीपर बैठे । इस शर्तपर मैं अपनी कन्याका विवाह आपके पिताके साथ कर सकता हूँ, नहीं तो नहीं । उस दासराज (धीवरराज) के वचनको सुनकर गङ्गापुत्र देवव्रतने सब राजाओंके सामने यह उत्तर दिया कि हे दासराज ! तुम जैसा कहते हो, मैं वैसा ही करूँगा । यह मेरा सत्य वचन है, इसे तुम निश्चय ही मानो । इस कन्यासे जो पुत्र उत्पन्न होगा, वही हमारा राजा होगा । तब धीवरराजने कहा—'हे सत्यधर्मपरायण ! आपने मेरी कन्या सत्यवतीके लिये सब राजाओंके बीचमें जो प्रतिज्ञा की है, वह आपके योग्य ही है, आप इस प्रतिज्ञाका पालन करेंगे, इसमें मुझे तनिक भी सन्देह नहीं है, किन्तु आपके जो पुत्र होंगे—उनसे मुझे बड़ा सन्देह है—वे इस कन्याके पुत्रसे राज्य ले सकते हैं ।' तदनन्तर गङ्गापुत्र देवव्रतने अपने पिताका प्रिय करनेकी इच्छासे दूसरी

न होगा, तुम्हारी आज्ञा होनेपर ही तुम्हें मृत्यु मार सकेगी।' (महाभारत आदि० अ० १००)

आजीवन ब्रह्मचर्यके प्रभावसे अकेले भीष्म काशीमें समस्त राजाओंको परास्त करके अपने भाई विचित्रवीर्यके साथ विवाह करनेके लिये बलपूर्वक स्वयंवरसे काशिराजकी अम्बा, अम्बिका, अम्बालिका नामवाली तीनों कन्याओंको ले आये। उन तीनों कन्याओंमें शाल्वराजकी इच्छा करनेवाली अम्बा नामवाली कन्याका त्याग कर दिया, और उस अम्बाके पक्षको लेकर आये हुए जमदग्निपुत्र परशुरामके साथ बहुत दिनोंतक घोर युद्ध करके अपनी प्रतिज्ञाकी रक्षा की।

महाभारतको देखनेसे ज्ञात होता है कि भीष्म केवल शूरवीर ही थे इतनी बात नहीं, वे बड़े भारी सदाचारी, सद्गुण-सम्पन्न, शास्त्रके ज्ञाताओंमें सूर्यरूप एवं भक्तोंमें शिरोमणि थे। भीष्मने भगवान् श्रीकृष्णजीके कहनेसे राजा युधिष्ठिरको भक्ति, ज्ञान, सदाचार आदि धर्मके विषयमें अलौकिक उपदेश दिया था जिससे शान्ति और अनुशासनपर्व भरा पड़ा है। आजीवन ब्रह्मचर्यके पालनके प्रभावसे वे अचल कीर्ति और इच्छामृत्युको प्राप्त करके सर्वोत्तम परमगतिको प्राप्त हो गये।

ब्रह्मचर्यकी महिमा बतलाते हुए भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥

(८।११)

'जिस परमपदको चाहनेवाले ब्रह्मचारीगण ब्रह्मचर्यका आचरण करते हैं उस परमपदको मैं तेरे लिये संक्षेपसे कहूँगा।'

प्रायः इसी प्रकारका वर्णन कठोपनिषद्में भी आता है।

यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्।
(१।२।१५)

'जिसकी इच्छा करते हुए ब्रह्मचारीगण ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं उस परमपदको मैं तेरे लिये संक्षेपसे कहता हूँ। वह पद यह 'ॐ' है।'

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥
(क० उ० १।२।१६)

'यह ॐकार अक्षर ही ब्रह्म सगुणब्रह्म है, यही परब्रह्म निर्गुण ब्रह्म है, इस ॐकाररूप अक्षरको जानकर मनुष्य जिस वस्तुको चाहता है उसको वही मिलती है।'

एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते॥
(क० उ० १।२।१७)

'यह सबसे उत्तम आलम्बन है, यह ही सबसे ऊँचा आलम्बन है। जो मनुष्य इस आलम्बनको जान जाता है वह ब्रह्मलोकमें महिमावाला होता है।' यानी ब्रह्मलोकनिवासी भी उसकी महिमा गाते हैं।

अतएव बालकोंको ब्रह्मचर्यके पालनपर विशेष ध्यान देना चाहिये । यदि आजीवन ब्रह्मचर्यका पालन न हो सके तो शास्त्रकी आज्ञानुसार चौबीस वर्ष ब्रह्मचर्यका पालन करें, यदि इतना भी न हो सके तो, कम-से-कम आजकलके समयके अनुसार अठारह वर्षतक ब्रह्मचर्यका पालन तो अवश्य ही करना चाहिये, इससे पूर्व ब्रह्मचर्यका नाश करनेवाले बालकको सदाके लिये पश्चात्ताप एवं रोगोंका शिकार होकर असमयमें मृत्युका शिकार बनना पड़ता है । विषय-भोगोंके अधिक भोगनेसे बल, वीर्य, तेज, बुद्धि, ज्ञान, स्मृतिका नाश और दुर्गुण-दुराचारोंकी वृद्धि होकर उसका पतन हो जाता है । इसलिये गृहस्थी भाइयोंसे भी नम्र निवेदन है कि महीनेमें एक बार ऋतुकालके अतिरिक्त स्त्री-सहवास न करें । क्योंकि उपर्युक्त नियमपूर्वक सहवास करनेवाला गृहस्थी भी यति और ब्रह्मचारीके सदृश माना गया है ।

विद्या

संसारमें विद्याके समान कोई भी पदार्थ नहीं है । संसारके पदार्थोंका तात्त्विक ज्ञान भी विद्यासे ही होता है । विद्या तो बाँटनेसे भी बढ़ती है । आदर, सत्कार, प्रतिष्ठा भी विद्यासे मिलते हैं क्योंकि विद्वान् जहाँ-जहाँ जाता है, वहाँ-वहाँ उसका आदर-सत्कार होता है । विद्याके प्रभावसे मनुष्य जो चाहे सो कर सकता है, विद्या गुप्त और परमधन है ।

भोगके द्वारा विद्या कामधेनु और कल्पवृक्षकी भाँति फल देनेवाली है । विद्याकी बड़ाई कहाँतक की जाय मुक्तितक विद्यासे

मिलती है क्योंकि ज्ञान विद्याका ही नाम है और विना ज्ञानके मुक्ति होती नहीं, इसलिये विद्या मुक्तिको देनेवाली भी है।

विद्या नाम नरस्य रूपमधिकं प्रच्छन्नगुप्तं धनं
विद्या भोगकरी यशःसुखकरी विद्या गुरूणां गुरुः।
विद्या बन्धुजनो विदेशगमने विद्या परं दैवतं
विद्या राजसु पूज्यते न हि धनं विद्याविहीनः पशुः॥
(भर्तृहरिनीतिशतक २०)

'विद्या ही मनुष्यका अधिक-से-अधिक रूप और ढका हुआ गुप्त धन है, विद्या ही भोग, यश और सुखको देनेवाली है तथा गुरुओंकी भी गुरु है। विदेशमें गमन करनेपर विद्या ही बन्धुके समान सहायक हुआ करती है, विद्या परम देवता है, राजाओंके यहाँ भी विद्याकी ही पूजा होती है, धनकी नहीं। इसलिये जो मनुष्य विद्यासे हीन है, वह पशुके समान है।'

कामधेनुगुणा विद्या ह्यकाले फलदायिनी।
प्रवासे मातृसदृशी विद्या गुप्तं धनं स्मृतम्॥
(चाणक्य ४।५)

'विद्यामें कामधेनुके समान गुण हैं, यह अकालमें भी फल देनेवाली है, यह विद्या मनुष्यका गुप्तधन समझा गया है। विदेशमें यह माताके समान (मदद करती) है।'

न चोरहार्यं न च राजहार्यं
न भ्रातृभाज्यं न च भारकारि।

व्यये कृते वर्धत एव नित्यं
विद्याधनं सर्वधनप्रधानम् ॥

'विद्याको चोर या राजा नहीं छीन सकते। भाई इसका बटवारा नहीं करा सकते और इसका कुछ भार भी नहीं लगता, तथा दान करनेसे यानी दूसरोंको पढ़ानेसे यह विद्या नित्य बढ़ती रहती है अतः विद्यारूपी धन सब धनोंमें प्रधान है।'

धर्मशास्त्रोंका ज्ञान भी विद्यासे ही होता है। शास्त्रका अभ्यास वाणीका तप है ऐसा गीतामें भी कहा है—

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥
(१७। १५)

'जो उद्वेगको न करनेवाला प्रिय और हितकारक (एवं) यथार्थ भाषण है और (जो) वेद-शास्त्रोंके पढ़नेका एवं परमेश्वरके नाम जपनेका अभ्यास है वह निःसन्देह वाणीसम्बन्धी तप कहा जाता है।'

अतएव बालकोंको शास्त्रोंके अभ्यासके लिये तो विद्याका अभ्यास विशेषरूपसे करना चाहिये। विद्या पढ़ानेमें माता-पिताको भी पूरी सहायता करनी चाहिये। क्योंकि जो माता-पिता अपने बालकको विद्या नहीं पढ़ाते हैं वे शत्रुके समान माने गये हैं—

माता शत्रुः पिता वैरी येन बालो न पाठितः।
न शोभते सभामध्ये हंसमध्ये बको यथा ॥
(चाणक्य २। ११)

'वे माता और पिता वैरीके समान हैं जिन्होंने अपने बालकको विद्या नहीं पढ़ायी, क्योंकि बिना पढ़ा हुआ बालक सभामें वैसे ही शोभा नहीं पाता जैसे हंसोंके बीच बगुला।'

बालकोंको भी स्वयं पढ़नेके लिये विशेष चेष्टा करनी चाहिये। क्योंकि चाणक्यमें कहा है—

रूपयौवनसम्पन्ना विशालकुलसम्भवाः।
विद्याहीना न शोभन्ते निर्गन्धा इव किंशुकाः॥
(३।८)

'विद्यारहित मनुष्य रूप और यौवनसे सम्पन्न एवं बड़े कुलमें उत्पन्न होनेपर भी विद्वानोंकी सभामें उसी प्रकार शोभा नहीं पाते जैसे बिना गन्धका पुष्प।'

इसलिये हे बालको! विद्याका अभ्यास भी तुम्हारे लिये अत्यन्त आवश्यकीय है। अबतक जितने विद्वान् हुए और वर्तमानमें जो हैं, उनका विद्याके प्रतापसे ही आदर-सत्कार हुआ और हो रहा है।

बड़प्पन और गौरवमें भी विद्याके समान जाति, आयु, अवस्था, धन, कुटुम्ब कुछ भी नहीं है। मनुजी कहते हैं—

वित्तं बन्धुर्वयः कर्म विद्या भवति पञ्चमी।
एतानि मान्यस्थानानि गरीयो यद्यदुत्तरम्॥
(२।१३६)

'धन, कुटुम्ब, आयु, कर्म और पाँचवीं विद्या ये बड़प्पनके

स्थान हैं। इनमें जो-जो पीछे है वही पहलेसे वड़ा है अर्थात् धनसे कुटुम्ब वड़ा है इत्यादि।'

न हायनैर्न पलितैर्न वित्तेन न वन्धुभिः।
ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान्॥
(२।१५४)

'न बहुत वर्षोंकी अवस्थासे, न सफेद वालोंसे, न धनसे, न भाई-वन्धुओंसे कोई वड़ा होता है। ऋषियोंने यह धर्म किया है कि जो अङ्गोंसहित वेद पढ़नेवाला है वही हमलोगोंमें वड़ा है।'

न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः।
यो वै युवाप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः॥
(२।१५६)

'सिरके वाल सफेद होनेसे कोई वड़ा नहीं होता। तरुण होकर भी जो विद्वान् होता है उसे देवता वृद्ध मानते हैं।'

यही क्या विद्यासे सव कुछ मिल सकता है किन्तु कल्याणके चाहनेवाले मनुष्योंको केवल वेद, शास्त्र और ईश्वरका तत्त्व जाननेके लिये ही अभ्यास करना चाहिये। अभ्यास करनेमें सांसारिक सुखोंका त्याग और महान् कष्टका सामना करना पड़े तो भी हिचकना नहीं चाहिये।

इसलिये हे वालको! तुमलोगोंको भी स्वाद, शौक, भोग, आराम, आलस्य और प्रमादको विद्यामें वाधक समझकर इन सवका एकदम त्याग करके विद्याभ्यास करनेके लिये कटिवद्ध होकर प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये।

माता, पिता, आचार्य आदि गुरुजनोंकी सेवा

माता, पिता, आचार्यकी सेवा और आज्ञापालनके समान बालकोंके लिये दूसरा कोई भी धर्म नहीं है। मनुने भी कहा है—इन सबकी सेवा ही परमधर्म है, शेष सब उपधर्म हैं—

त्रिष्वेतेष्वितिकृत्यं हि पुरुषस्य समाप्यते।
एष धर्मः परः साक्षादुपधर्मोऽन्य उच्यते॥
(२।२३७)

'इन तीनोंकी सेवासे ही पुरुषका सब कृत्य समाप्त हो जाता है यानी उसे कुछ भी करना शेष नहीं रहता। यही साक्षात् परमधर्म है, इसके अतिरिक्त अन्य सब उपधर्म कहे जाते हैं।'

बात यह है शास्त्रोंमें माता, पिता, आचार्यको तीनों लोक, तीनों वेद और देवता बतलाये हैं। श्रुति कहती है—

मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव।

'माता, पिता और आचार्यको देवता माननेवाला हो।'

मनुने कहा है—

त एव हि त्रयो लोकास्त एव त्रय आश्रमाः।
त एव हि त्रयो वेदास्त एवोक्तास्त्रयोऽग्नयः॥
(२।२३०)

'वे ही तीनों लोक, वे ही तीनों आश्रम, वे ही तीनों वेद और वे ही तीनों अग्नि कहे गये हैं।'

भगवान्‌ने तपकी व्याख्या करते हुए प्रथम बड़ोंकी सेवा-पूजाको शरीरका तप कहा है—

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥
(गीता १७। १४)

'देवता, ब्राह्मण, गुरु और ज्ञानीजनोंका पूजन, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा यह शरीर-सम्बन्धी तप कहा जाता है।'

इसलिये बालकोंको उचित है कि आलस्य और प्रमादको छोड़कर माता-पिता आदि गुरुजनोंकी सेवाको परमधर्म समझकर उनकी पूजा-सेवा एवं आज्ञाका पालन तत्पर होकर करें।

गुरुजनोंकी सेवा

मनुष्य केवल गुरुकी सेवासे भी परब्रह्म परमात्माको प्राप्त हो जाता है। गीतामें भी कहा है—

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥
(१३। २५)

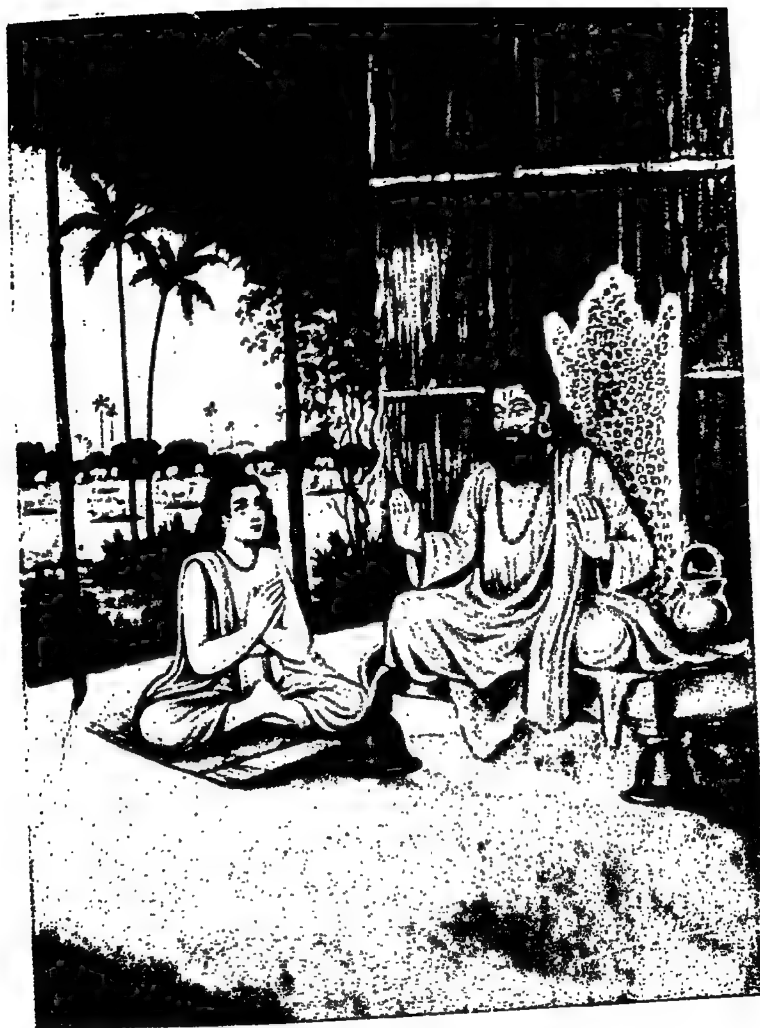
'इनसे दूसरे अर्थात् जो मन्द बुद्धिवाले पुरुष हैं वे (स्वयं) इस प्रकार न जानते हुए दूसरोंसे अर्थात् तत्त्वके जाननेवाले पुरुषोंसे सुनकर ही उपासना करते हैं और वे सुननेके परायण हुए पुरुष भी मृत्युरूप संसारसागरको निःसन्देह तर जाते हैं।'

इस प्रकारके वेद और शास्त्रोंमें बहुत-से उदाहरण भी मिलते हैं। एक समय आयोदधौम्य मुनिने पंजाबनिवासी आरुणि नामक शिष्यसे कहा—'हे आरुणे! तुम खेतमें जाकर बाँध बाँधो।' आरुणि गुरुकी आज्ञाको पाकर वहाँ गया, पर प्रयत्न करनेपर भी किसी प्रकारसे वह जलको नहीं रोक सका। अन्तमें उसे एक उपाय सूझा और वह स्वयं क्यारीमें जाकर लेट रहा। उसके लेटनेसे जलका प्रवाह रुक गया। समयपर आरुणिके न लौटनेसे, आयोदधौम्य मुनिने अन्य शिष्योंसे पूछा, पंजाबनिवासी आरुणि कहाँ है? शिष्योंने उत्तर दिया आपने ही उसे खेतका बाँध बाँधनेके लिये भेजा है। शिष्योंकी बात सुनकर मुनिने कहा चलो, जहाँ आरुणि गया है वहीं हम सब लोग चलें। तदनन्तर गुरुजी वहाँ बाँधके पास पहुँचकर, उसे बुलानेके लिये पुकारने लगे—'बेटा आरुणे! कहाँ हो, चले आओ।' आरुणि उपाध्यायकी बात सुनकर उस बाँधसे सहसा उठकर उनके निकट उपस्थित हुआ और बोला—'हे भगवन्! आपके खेतका जल निकल रहा था, मैं उसे किसी प्रकारसे रोक नहीं सका, तब अन्तमें मैं वहाँ लेट गया इसीसे जलका निकलना बंद हो गया। इस समय आपके पुकारनेपर सहसा आपके पास आया हूँ और प्रणाम करता हूँ,—आप आज्ञा दीजिये, इस समय मुझको कौन-सा कार्य करना होगा।' गुरु बोले—'बेटा! बाँधका उद्दलन करके निकले हो इसलिये तुम उद्दालक नामसे प्रसिद्ध होओगे।' यह कहकर उपाध्याय उसपर कृपा दिखलाते हुए बोले, 'तुमने

तन, मनसे मेरी आज्ञाका पालन किया है, इसलिये सम्पूर्ण वेद और धर्मशास्त्र तुम्हारे मनमें विना पढ़े ही प्रकाशित रहेंगे और तुम कल्याणको प्राप्त हो जाओगे।' इसके उपरान्त वह गुरुके प्रसादको पाकर आरुणि (उद्दालक) गुरुकी आज्ञासे अपने देशको चला गया। (महाभारत आदिपर्व अध्याय ३)

जवाला नामकी एक स्त्री थी, उसके पुत्रका नाम सत्यकाम था। एक समय वह हारिद्रुमतगौतमके पास जाकर कहा 'मैं आपके यहाँ ब्रह्मचर्यका पालन करता हुआ वास करूँगा इसलिये मैं आपके पास आया हूँ।' गुरुने कहा 'हे सौम्य! तू किस गोत्रवाला है?' तव सत्यकाम वोला 'भगवन्! मैं नहीं जानता।' तव गौतमने कहा 'ऐसा स्पष्ट भाषण ब्राह्मणेतर नहीं कर सकता अतएव तू ब्राह्मण है, क्योंकि तुमने सत्यका त्याग नहीं किया है।'

फिर गौतमने उसका उपनयन-संस्कार करनेके अनन्तर, गौओंके झुण्डमेंसे चार सौ कृश और दुर्वल गौएँ अलग निकालकर उससे कहा कि 'हे सौम्य! तू इन गौओंके पीछे-पीछे जा।' गुरुकी इच्छा जानकर सत्यकामने कहा 'इनकी एक सहस्र संख्या पूरी हुए बिना मैं नहीं लौटूँगा।' तव वह एक अच्छे वनमें गया जहाँ जल और तृणकी वहुतायत थी। और वहुत कालपर्यन्त उनकी सेवा करता रहा। जव वे एक हजारकी संख्यामें हो गयीं, तव एक साँढ़ने उससे कहा कि 'हे सत्यकाम! हम एक सहस्र हो गये हैं—अव तुम हमें आचार्यकुलमें पहुँचा दो। इसके वाद सत्यकाम उन गौओंको आचार्यकुलमें ले आया और गुरुकी आज्ञापालन-



सत्यकाम और गुरु गौतम

के प्रतापसे ही उसको रास्ते चलते-चलते ही साँड़, अग्नि, हंस और मुद्गलद्वारा विज्ञानानन्दघन ब्रह्मके स्वरूपकी प्राप्ति हो गयी। यह कथा छान्दोग्योपनिषद् अ० ४ खं० ४ से ९ तकमें है।

एक समय जबालाके पुत्र सत्यकामसे कमलके पुत्र उपकोशलने यज्ञोपवीत लेकर बारह वर्षतक उनकी सेवा की। तब सत्यकामकी भार्याने स्वामीसे कहा—'यह उपकोशल खूब तपस्या कर चुका है, इसने अच्छी तरह आपकी आज्ञानुसार अग्नियोंकी सेवा की है। अतएव इसे ब्रह्मविद्याका उपदेश करना चाहिये।' पर सत्यकामने उसे कुछ उत्तर नहीं दिया और उपदेश बिना दिये ही बाहर चले गये। उनके चले जानेपर उपवास करनेवाले उपकोशलको अग्नियोंने ब्रह्मका उपदेश दिया। उसके बाद गुरु लौटकर वापस आये और उससे पूछा—'हे सौम्य! तेरा मुख ब्रह्मवेत्ताके समान प्रतीत होता है, तुम्हें किसने उपदेश दिया है?' तब उपकोशलने इशारोंसे अग्नियोंको बतलाया। उसके बाद आचार्यने पूछा—'क्या उपदेश दिया है?' तब उसने सारी बातें ज्यों-की-त्यों कह दी। तब आचार्य बोले—'हे सौम्य! अब तुझे उस ब्रह्मका उपदेश मैं करूँगा जिसे जान लेनेपर तू जलसे कमलपत्तेके सदृश पापसे लिपायमान नहीं होगा।' तब उपकोशल-ने कहा—'मुझे बतलाइये'—फिर आचार्यने उसे ब्रह्मका उपदेश दिया और उससे वह ब्रह्मको प्राप्त हो गया। यह कथा छान्दोग्य० अ० ४ खण्ड १० से १५ तकमें है।

आजकलके प्रायः बालक किसके साथमें कैसा बर्ताव करना

आसीनस्य स्थितः कुर्यादभिगच्छंस्तु तिष्ठतः ।
प्रत्युद्गम्य त्वाव्रजतः पश्चाद्धावंस्तु धावतः ॥
(मनु० २ । १९६)

शिष्यको चाहिये कि 'बैठे हुए गुरुसे खड़े होकर, खड़े हुएसे उनके सामने जाकर, अपनी ओर आते हुएसे कुछ पद आगे जाकर, दौड़ते हुएसे उनके पीछे दौड़कर बातचीत करे ।'

नीचं शय्यासनं चास्य सर्वदा गुरुसन्निधौ ।
गुरोस्तु चक्षुर्विषये न यथेष्टासनो भवेत् ॥
(मनु० २ । १९८)

'गुरुके समीप शिष्यकी शय्या और आसन सदा नीचा रहना चाहिये । गुरुकी आँखोंके सामने शिष्यको मनमाने आसनसे नहीं बैठना चाहिये । गुरुके साथ असत्य आचरण करनेसे उसकी दुर्गति होती है ।' मनुजीने कहा है—

परीवादात्खरो भवति श्वा वै भवति निन्दकः ।
परिभोक्ता कृमिर्भवति कीटो भवति मत्सरी ॥
(मनु० २ । २०१)

'गुरुको झूठा दोष लगानेवाला गधा, उनकी निन्दा करनेवाला कुत्ता, अनुचित रीतिसे उनके धनको भोगनेवाला कृमि और उनके साथ डाह करनेवाला कीट होता है ।'

इसलिये उनके साथ असत् व्यवहार कभी नहीं करना चाहिये ।

हे बालको ! जब तुम गुरुजनोंके पास विद्या सीखने जाओ, तब मन, वाणी, इन्द्रियोंको वशमें करके सादगीके साथ श्रद्धा-भक्तिपूर्वक गुरुजनोंके समीप उनसे नीचे कायदेमें रहते हुए, विनय और सरलताके साथ, उनको प्रणाम करते हुए विद्याका अभ्यास एवं प्रश्नोत्तर किया करो ।

इस प्रकार व्यवहार करनेसे गुरुजन प्रेमसे उपदेश, शिक्षा, विद्यादिका प्रदान प्रसन्नतापूर्वक कर सकते हैं । सेवा करनेवाला सेवक उनसे विद्या सहजमें ही पा सकता है । भगवान्‌ने भी गीतामें कहा है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥
(४ । ३४)

अब यह बतलाया जाता है कि गुरुजनोंके पास जाकर कैसे प्रणाम करना चाहिये । मनुने कहा है—

व्यत्यस्तपाणिना कार्यमुपसंग्रहणं गुरोः ।
सव्येन सव्यः स्प्रष्टव्यो दक्षिणेन च दक्षिणः ॥
(२ । ७२)

हाथोंको हेरफेर करके गुरुके चरण छूने चाहिये । बायें हाथसे बायाँ और दाहिने हाथसे दाहिना चरण छूना चाहिये ।

माता-पितादि अन्य पूज्यजनोंके साथ भी इसी प्रकारका व्यवहार करना चाहिये । क्योंकि बड़ी बहिन, बड़े भाईकी स्त्री, मौसी, मामी, सास, फूआ आदि भी गुरुपत्नी और माताके समान हैं ।

और इनके पति गुरु और पिताके समान हैं। इसलिये इन सबकी सेवा, सत्कार, प्रणाम करना मनुष्यका कर्तव्य है।

अपनेसे कोई किसी भी प्रकार बड़े हों उन सबकी सेवा और उन्हें आदरपूर्वक प्रणाम करना चाहिये। उनमें भी वेद और शास्त्रको जाननेवाला विद्वान् ब्राह्मण तो सबसे बढ़कर सत्कार करने योग्य है।

माता-पिताकी सेवा

माता-पिताकी सेवाकी तो बात ही क्या है—वे तो सबसे बढ़कर सत्कार करनेयोग्य हैं। मनुने भी कहा है—

उपाध्यायान्दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता।
सहस्रं तु पितॄन्माता गौरवेणातिरिच्यते॥
(२। १४५)

'बड़प्पनमें दश उपाध्यायोंसे एक आचार्य, सौ आचार्योंसे एक पिता और हजार पिताओंसे एक माता बड़ी है।'

इसलिये कल्याण चाहनेवालेको श्रद्धा-भक्तिपूर्वक तत्परताके साथ उनकी सेवा करना उचित है। देखो, महाराज युधिष्ठिर बड़े सदाचारी, गुणोंके भण्डार, ईश्वरभक्त, अजातशत्रु एवं महान् धर्मात्मा पुरुष थे जिनके गुण और आचरणोंकी व्याख्या कौन लिख सकता है। ये सब बात होते हुए भी वे अपने माता-पिताके भक्त भी असाधारण थे। इतना ही नहीं वे अपने बड़े पिता धृतराष्ट्र एवं गान्धारीके भी कम भक्त नहीं थे। वे उनकी

अनुचित आज्ञाका पालन करना भी अपना धर्म समझते थे। राजा धृतराष्ट्रने पाण्डवोंको भस्म करनेके उद्देश्यसे लाक्षाभवन बनवाया और उसमें बुरी नीयतसे पाण्डवोंको मातासहित वास करनेकी आज्ञा दी। इस कपटभरी आज्ञाको भी युधिष्ठिरने शिरोधार्य करके राजा धृतराष्ट्रके षड्यन्त्रपूर्ण भावको समझते हुए भी वारणावत नगरमें जाकर लाक्षाभवनमें निवास किया किन्तु धर्मका सहारा लेनेके कारण इस प्रकारकी आज्ञाका पालन करनेपर भी धर्मने उनकी रक्षा की। साक्षात् धर्मके अवतार विदुरजीने सुरङ्ग खुदवाकर लाक्षागृहसे मातासहित पाण्डवोंको निकालकर बचाया। क्योंकि जो पुरुष धर्मका पालन करता है, धर्मको बाध्य होकर उसकी अवश्यमेव रक्षा करनी पड़ती है। शास्त्रोंमें ऐसा कहा है कि धर्म किसीको नहीं छोड़ता—लोग ही उसे छोड़ देते हैं अतएव मनुष्यको उचित है कि घोर आपत्ति पड़नेपर भी काम, लोभ, भय और मोहके वशीभूत होकर धर्मका त्याग कभी न करें।

राजा युधिष्ठिरपर बहुत आपत्तियाँ आयीं, पर उन्होंने बराबर धर्मका पालन किया इसलिये धर्म भी उनकी रक्षा करते रहे।

जुआ खेलना महापाप है और सारे अनर्थोंका कारण है, ऐसा समझते हुए भी धृतराष्ट्रकी आज्ञा होनेके कारण राजा युधिष्ठिरने जुआ खेला। उसके फलस्वरूप द्रौपदीका घोर अपमान और वनवासके महान् कष्टको सहन किया, किन्तु आज्ञापालनरूप धर्मका त्याग न करनेके कारण भगवान्‌की कृपासे अन्तमें उनकी विजय हुई।

इसके बाद उस अतुल राज्यलक्ष्मीको पाकर भी राजा युधिष्ठिरने अपने साथ घोर अन्याय करनेवाले धृतराष्ट्र और गान्धारी-को नित्य प्रणाम करते हुए उनकी सेवा की। जब धृतराष्ट्र वनमें जाने लगे उस समय अपने मरे हुए बन्धु-बान्धवों और पुत्रोंके उद्देश्यसे अपरिमित धन ब्राह्मणोंको दान देनेके लिये इच्छा प्रकट की। उस समय राजा युधिष्ठिरने साफ शब्दोंमें विदुरके हाथ यह सन्देशा भेजा कि 'मेरा जो भी कुछ धन है वह सब आपका है। मेरा शरीर भी आपके अधीन है, आप इच्छानुसार जो चाहें सो कर सकते हैं!' (महाभारत आश्रमवासिकपर्व अ० १२)। पाठकगण! जरा सोचिये और ध्यान दीजिये। अपने साथ इस प्रकारका विरोध करनेवाले एवं प्राण लेनेकी चेष्टा रखनेवालोंके साथ भी ऐसा धर्मयुक्त उदारतापूर्ण व्यवहार करना साधारण बात नहीं है। इसीलिये आज संसारमें राजा युधिष्ठिर धर्मराजके नामसे विख्यात हैं। और धर्मपालनके प्रभावसे ही वे सदेह स्वर्गको जाकर उसके बाद अतुलनीय परमगतिको प्राप्त हो गये। अतएव हमलोगोंको अपने साथ अनुचित व्यवहार करनेपर भी माता-पितादि गुरुजनोंकी सेवा तो श्रद्धा-भक्तिपूर्वक सरलताके साथ करनी ही चाहिये।

फिर जन्म देनेवाले माता-पिताकी तो बात ही क्या है वे तो सबसे बढ़कर सत्कार करनेके योग्य हैं। क्योंकि हमलोगोंके पालन-पोषणमें उन्होंने जो क्लेश सहा है उनका स्मरण करनेसे रोमाञ्च खड़े हो जाते हैं। मनुने कहा है—

यं मातापितरौ क्लेशं सहेते सम्भवे नृणाम् ।
न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्तुं वर्षशतैरपि ॥
(२ । २२७)

मनुष्यकी उत्पत्तिके समयमें जो क्लेश माता-पिता सहते हैं, उसका बदला सौ वर्षोंमें भी सेवादि करके नहीं चुकाया जा सकता।

इसलिये हमलोगोंको बदला चुकानेका उद्देश्य न रखकर उनको सेवा-पूजा और आज्ञाका पालन अपना परम कर्तव्य समझकर करना चाहिये । ऐसा करना ही परमधर्म और परमतप है अर्थात् माता-पिताके सेवाके समान न कोई धर्म है और न कोई तप है। देखो, धर्मव्याध व्याध होनेपर भी माता-पिताकी सेवाके प्रतापसे त्रिकालज्ञ हुए। उन्होंने श्रद्धा-भक्ति, विनय और सरलतापूर्वक अपने माता-पिताकी सेवा की ।

वे अपने माता-पिताको सबसे उत्तम देवमन्दिरके समान सुन्दर घरमें रक्खा करते थे—उसमें बहुत-से पलंग, आसन आरामके लिये रहते थे । जैसे मनुष्य देवताओंकी पूजा करते हैं वैसे ही वे अपने माता-पिताको ही यज्ञ, होम, अग्नि, वेद और परमदेवता मानकर पुष्पोंसे, फलोंसे, धनसे उनको प्रसन्न करते थे । वे स्वयं ही उन दोनोंके पैर धोते, स्नान कराके उन्हें भोजन कराते तथा उनसे मीठे और प्रिय वचन कहते तथा उनके अनुकूल चलते थे । इस प्रकार वे आलस्यरहित होकर शम, दम आदि साधनमें स्थित हुए अपना परमधर्म समझकर मन, वाणी, शरीरद्वारा तत्परतासे पुत्र, स्त्रीके सहित उनकी सेवा करते थे । जिसके प्रतापसे वे इस लोकमें

अचल कीर्ति, दिव्यदृष्टिको प्राप्त होकर उत्तम गतिको प्राप्त हुए (महा० व० प० अ० २१४-२१५) ।

कौशिकमुनि जो माता-पिताकी आज्ञा लिये बिना तप करने चले गये थे, वह भी इन धर्मव्याधके साथ वार्तालाप करके तपसे भी माता-पिताकी सेवाको बढ़कर समझ पुनः माता-पिताकी सेवा करके उत्तम गतिको प्राप्त हुए ।

जो माता-पिताकी सेवा और आज्ञापालन न करके और उससे विपरीत आचरण करता है उसकी इस लोकमें भी निन्दा एवं दुर्गति होती है—यह बात लोकमें प्रसिद्ध ही है कि राजा कंसने बलपूर्वक राज छीनकर अपने माता-पिताको कैदमें डाल दिया था। इस कारण उसपर आजतक कलंककी कालिमा लगी हुई है, आज भी कोई लड़का माता-पिताके साथ दुर्व्यवहार करता है, उसके माता-पिता उसपर आक्षेप करते हुए गालीके रूपमें उस बालकको कंसका अवतार बतलाया करते हैं किन्तु जो बालक माता-पिताकी सेवा, प्रणाम तथा उनकी आज्ञाका पालन करता हुआ उनके अनुकूल चलता है उसके माता-पिता उसके आचरणोंसे मुग्ध हुए गद्गद वाणीसे तपस्वी श्रवणकी उपमा देकर उसका गुणगान करते हैं । अतएव बालकोंसे हमारा सविनय निवेदन है कि उन्हें कभी कंस नहीं कहलाकर, श्रवण कहलाना चाहिये ।

आपलोगोंको मालूम होगा कि श्रवण एक तपस्या करनेवाले वैश्य-ऋषिका पुत्र था । श्रवणकी कथा वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डके ६३ और ६४ सर्गमें विस्तारपूर्वक वर्णित है ।

मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्रजी पिताकी आज्ञाको शिरोधारण करके प्रसन्नतापूर्वक जब वनको चले गये थे तब राजा दशरथ आज्ञाकारी भगवान् श्रीरामचन्द्रके विरहमें व्याकुल हुए कौशल्याके भवनमें जाकर रामके शील, सेवा, आचरणोंको याद करके रुदन करने लगे। भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके वनमें चले जानेपर छठीं रात्रिको अर्धरात्रिके समय पुत्रविरहसे पीड़ित होकर राजा कौशल्यासे बोले—हे देवी! जब हमलोगोंका विवाह नहीं हुआ था और मैं युवराजपदको प्राप्त हो गया था ऐसे समय बुरी आदतके कारण एक दिन मैं धनुष-बाण लेकर रथपर सवार होकर शिकार खेलनेके लिये, जहाँ महिष, हाथी आदि वनके पशु जल पीनेके लिये आया करते थे वहाँ, सरयूके तीरपर गया। तदनन्तर उस घोर वर्षाकी अँधियारी रात्रिमें कोई जलमें घड़ा डुबाने लगा तो उसके घड़ा भरनेका शब्द मुझको ऐसा प्रतीत हुआ मानो कोई हाथी जल पी रहा है, इस प्रकार अनुमान करके उस शब्दको निशाना बनाकर मैंने बाण छोड़ा। इतनेमें ही किसी वनवासीका शब्द सुनायी पड़ा—'हाय! हाय! यह बाण मुझको किसने मारा। मैं तपस्वी हूँ, इस घोर रात्रिमें नदीके किनारे जल लेने आया था, वनके फल-मूल खाकर वनमें वास करनेवाले जटा-वल्कल-मृगचर्मधारी मेरा वध अस्त्रके द्वारा कैसे किसने किया, मुझे मारकर किसीका क्या काम सिद्ध होगा? मैंने किसीका कुछ बुरा भी नहीं किया, फिर किसने मुझपर अकारण यह शस्त्र चलाया। मुझे अपने प्राणोंका शोक नहीं है, शोक तो केवल अपने

वृद्ध माता-पिताका हूँ। उन वृद्धोंका अबतक तो मेरेद्वारा पालन-पोषण होता रहा किन्तु मेरे मरनेपर वे मेरे बूढ़े माता-पिता अपना निर्वाह किस प्रकार करेंगे, अतएव हम सभी मारे गये।'

हे कौशल्ये! इस करुणाभरी वाणीको सुनकर मैं बहुत ही दुःखित हुआ और मेरे हाथसे धनुष-बाण गिर पड़ा। मैं कर्तव्य-अकर्तव्यके ज्ञानसे रहित शोकसे व्याकुल होकर वहाँ गया। मैंने जाकर देखा तो सरयूके तटपर जलका घड़ा हाथसे पकड़े रुधिरसे भीगा हुआ, बाणसे व्यथित एक तपस्वी युवक पड़ा तड़प रहा है। मुझे देखकर वह बोला कि 'हे राजन्! मैंने आपका क्या अपराध किया? मैं वनवासी हूं, अपने माता-पिताके पीनेके लिये जल लेनेको आया था, वे दोनों दुर्बल अन्धे और प्यासे हैं, वे मेरे आनेकी बाट देखते हुए बहुत ही दुःखित होंगे? मेरी इस दशाको भी पिताजी नहीं जानते हैं, इसलिये हे राघव! जबतक हमारे पिताजी आपको भस्म न कर डालें, उससे पहले ही आप शीघ्रता-से जाकर यह वृत्तान्त मेरे पिताजीसे कह दीजिये। हे राजन्! मेरे पिताजीके आश्रमपर जानेका यह छोटा-सा पगडंडीका मार्ग है, आप वहाँ शीघ्रतासे जाकर पिताजीको प्रसन्न करें जिससे वे क्रोधित होकर आपको शाप न दें। और मेरे मर्मस्थानसे यह पैना बाण निकालकर मुझे दुःखरहित कीजिये।'

हे कौशल्ये! इसके उपरान्त मेरे मनके भावको जाननेवाले मेरी चिन्तायुक्त दशाको देखकर बोलनेकी शक्ति न होनेपर भी मरणासन्न हुए उस ऋषिने धैर्य धारण करके स्थिरचित्तसे कहा—

'हे राजन् ! आप ब्रह्महत्याके डरसे बाण नहीं निकालते हैं— उसको दूर कीजिये, मैं वैश्यका पुत्र हूँ।' जब ऋषिकुमारने ऐसा कहा, तब मैंने उसकी छातीसे बाण निकाल लिया। बाणके निकालनेसे उसे बहुत ही कष्ट हुआ और उसने उसी समय वहीं प्राणोंका त्याग कर दिया। उसको मरा हुआ देखकर मैं बहुत ही दुःखित हुआ। हे देवि ! फिर चिन्ता करने लगा कि अब किस प्रकारसे मंगल हो। उसके बाद बहुत समझ-सोच घड़ेमें सरयूका जल भरकर उस तपस्वीके बतलाये हुए मार्गसे उसके पिताके आश्रमकी ओर चला और वहाँ जाकर उसके वृद्ध माता-पिताको देखा। उनकी अवस्था अति शोचनीय और शरीर अत्यन्त दुर्बल थे। वे पुत्रके जल लानेकी प्रतीक्षामें थे। मैं शोकाकुल चित्तसे डरके मारे चेतनारहित-सा तो हो ही रहा था और उस आश्रममें जाकर उनकी दशा देखकर मेरा शोक और भी बढ़ गया। मेरे पैरोंकी आहट सुनकर ऋषि अपना पुत्र समझ बोले—'हे वत्स ! तुम्हें इतना विलम्ब किस कारणसे हुआ, अच्छा अब जल्दीसे जल ले आ। हम नेत्रोंसे हीन हैं—इसलिये तुम्हीं हमारी गति, नेत्र और प्राण हो फिर तुम आज क्यों नहीं बोलते।' तब मैंने बहुत ही डरते हुए-से सावधानीके साथ, धीमे स्वरसे अपना परिचय देते हुए, आद्योपान्त श्रवणकी मृत्युविषयक सारा वृत्तान्त, ज्यों-का-त्यों कह सुनाया।

मेरे किये हुए उस दारुण पापके सारे वृत्तान्तको सुनकर नेत्रोंमें आँसू भर शोकसे व्याकुल हो, वे तपस्वी मुझ हाथ जोड़-

कर खड़े हुएसे बोले—'हे राजन्! तुमने यह दुष्कर्म किया, यदि इसको तुम अपने मुखसे न कहते तो तुम्हारे मस्तकके अभी सैकड़ों-हजारों टुकड़े हो जाते और आज ही सारे रघुवंशका नाश भी हो जाता। हे राजन्! अब जो कुछ हुआ सो हुआ, अब हमें वहाँ पुत्रके पास ले चलो। हम एक बार अपने उस पुत्रकी सूरतको देखना चाहते हैं क्योंकि फिर उसके साथ इस जन्ममें हमारा साक्षात् नहीं होगा।'

तत्पश्चात् मैं, पुत्रशोकसे व्याकुल हुए उन दोनों वृद्ध पति-पत्नीको वहाँ ले गया। वे दोनों पुत्रके निकट पहुँचकर और उसको छूकर गिर पड़े और विलाप करते हुए बोले—'हे वत्स! जब आधी रात बीत जाती थी, तब तुम उठकर धर्मशास्त्र आदिका पाठ करते थे जिसको सुनकर हम बहुत ही प्रसन्न होते थे। अब हम किसके मुखसे शास्त्रकी बातोंको सुनकर हर्षित होंगे। हे पुत्र! अब प्रातःकाल स्नान, सन्ध्योपासन और होम करके हमें कौन प्रमुदित करेगा? हे बेटा! अन्धे होनेके कारण हममें तो यह भी सामर्थ्य नहीं है कि कन्द, मूल, फल, इकट्ठा करके अपना पेट भर सकें। तुम्हीं हमारे स्नान, पान, भोजन आदिका प्रबन्ध करते थे। अब तुम हमलोगोंको छोड़कर चले गये। अब कन्द, मूल, फल वनसे लाकर प्रिय पाहुनेके समान हमें कौन भोजन करावेगा। अब तुम्हें छोड़कर अनाथ, असहाय और शोकसे व्याकुल हुए हम किसी प्रकार भी इस वनमें नहीं रह सकेंगे, शीघ्र ही यमलोकको चले जायँगे। हे वत्स! तुम पापरहित हो, पर पूर्व-

जन्ममें कोई तो पाप किया ही होगा जिससे तुम मारे गये ! अतएव शस्त्रके बलसे मरे हुए वीरगण जिस लोकमें गमन करते हैं, तुम भी हमारे सत्यबलसे उसी लोकमें चले जाओ, तथा सगर, शैब्य, दिलीप आदि राजर्षियोंकी जो उत्तम गति हुई है वही गति तुम्हें मिले। परलोकके लिये अच्छे कर्म करनेवालेकी देह त्यागनेके बाद जो गति होती है, वही तुम्हारी हो।'

इस प्रकार उस ऋषिने करुणस्वरसे बारंबार विलाप करते हुए अपनी स्त्रीके सहित पुत्रके अर्थ जलाञ्जलि दी। तदनन्तर वह धर्मवित् ऋषिकुमार अपने कर्मबलसे दिव्य रूप धारणकर विमान-पर चढ़ सर्वोत्तम दिव्यलोकको बहुत शीघ्र जाने लगा। उस समय एक मुहूर्ततक अपने माता-पिता दोनोंको आश्वासन देता हुआ पितासे बोला—'हे पिता! मैंने जो आपकी सेवा की थी उस पुण्यके बलसे मुझे सर्वोत्तम स्थान मिला है और आपलोग भी बहुत शीघ्र मेरे पास आवेंगे।' यह कहकर इन्द्रियविजयी ऋषि-कुमार अपने अभीष्ट दिव्यलोकको चला गया।

उसके बाद वह परम तपस्वी अन्धे मुनि मुझ हाथ जोड़कर खड़े हुएसे बोले—'हे राजन्! तुम क्षत्रिय हो और विशेष करके अजानमें ही ऋषिको मारा है, इस कारण तुम्हें ब्रह्महत्या तो नहीं लगेगी, किन्तु हमारे समान इसी प्रकारकी तुम्हारी भी घोर दुर्दशा होगी अर्थात् पुत्रके वियोगजनित व्याकुलतामें ही तुम्हारे प्राण जायँगे।' इस प्रकार वे अन्धे तपस्वी हमें शाप देकर

करुणायुक्त विलाप करते हुए चिता बनाकर मृतकके सहित दोनों भस्म होकर स्वर्गको चले गये।

हे देवि! शब्दवेधी होकर मैंने अज्ञानतासे जो पाप किया था उसके कारण मेरी यह दशा हुई है। अब उसका समय आ गया है,—इस प्रकार इतिहास कहकर राजा दशरथ रुदन करने लगे और मरणभयसे भयभीत होकर पुनः कौशल्यासे बोले—'हे कल्याणि! मैंने रामचन्द्रके साथ जो व्यवहार और बर्ताव किया है वह किसी प्रकार भी योग्य नहीं है—परन्तु उन्होंने जो मेरे साथ बर्ताव किया है वह उनके योग्य ही है। भला इस प्रकार वनवास देनेपर भी पितासे कुछ भी न कहे ऐसा कोई पुत्र संसारमें है? अतएव न तो मेरे-जैसा दयारहित पिता ही है और न परम-शीलवान् रामचन्द्र-जैसा पुत्र ही है। हे देवि! इससे अधिक और क्या दुःख होगा कि मरणके समयमें भी सत्यपराक्रम रामचन्द्र-को मैं नहीं देख सकता। आजसे पन्द्रहवें वर्ष वनवाससे लौटकर अयोध्यामें आये हुए शरदृऋतुके चन्द्रमा एवं खिले हुए कमलपुष्प-के समान श्रीरामचन्द्रके मुखारविन्दको जो लोग देखेंगे वे ही पुरुष धन्य हैं और सुखी हैं। हे कौशल्ये! रामचन्द्रको वनमें भेजकर मैं एकबारगी ही अनाथ हो गया। इस प्रकार शोकसे व्याकुल हुए दशरथजी विलाप करने लगे। हा राम! हा महाबाहो! हा पितृवत्सल! हा शोकके निवारण करनेवाले! तुम्हीं हमारे नाथ हो, और तुम्हीं हमारे पुत्र हो। तुम कहाँ गये। हा कौशल्ये! हा सौमित्रे! अब तुम हमें दिखायी नहीं देते हो। इस प्रकार

राजा दशरथने दुःखसे बहुत ही व्याकुल और आतुर होकर विलाप करते-करते आधी रातके समय प्राण छोड़ दिये ।

अतएव हे बालको ! तुमलोगोंको भी वैश्यऋषि श्रवणकुमार एवं मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्रजीकी तरह माता-पिताके चरणोंमें नित्य प्रणाम करना चाहिये । और श्रद्धा, भक्ति, विनय और सरलतापूर्वक उनकी आज्ञाका पालन करते हुए उनकी सेवा करनेके लिये तत्परताके साथ परायण होना चाहिये । जो पुरुष उपर्युक्त प्रकारसे माता-पिताकी सेवाके परायण होते हैं उनकी आयु, विद्या और बलकी तो वृद्धि होती ही है—उत्तम गति तथा इस लोक और परलोकमें चिरकालतक रहनेवाली कीर्ति भी होती है ।

आज संसारमें श्रवणकी कीर्ति विख्यात है, भगवान् श्रीरामचन्द्रजीकी तो बात ही क्या है वे तो साक्षात् परमात्मा थे ! उन्होंने तो लोक-मर्यादाके लिये ही अवतार लिया था । उन मर्यादापुरुषोत्तम भगवान्‌का व्यवहार तो लोक-हितके लिये आदर्शरूप था । श्रीरामचन्द्रजीका व्यवहार माता-पिता गुरुजनोंके साथ तो श्रद्धा, भक्ति, विनय और सरलतापूर्वक था ही, किन्तु सीता और अपने भाइयोंके साथ एवं समस्त प्रजाओंके साथ भी अलौकिक दया और प्रेमपूर्ण था । अतएव आपलोगोंको श्रीरामचन्द्रजी महाराजको आदर्श मानकर उनका लक्ष्य रखते हुए उनकी आज्ञा, स्वभाव एवं आचरणोंके अनुसार अपने स्वभाव और आचरणोंको

बनानेके लिये कटिबद्ध होकर प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये। इस प्रकारका निष्काम भावसे पालन किया हुआ धर्म शीघ्र ही भगवत्की प्राप्तिरूप परम कल्याणका करनेवाला है, ऐसे धर्मके पालन करनेसे मृत्यु भी हो जाय तो उस मृत्युमें भी कल्याण है।

'स्वधर्मे निधनं श्रेयः' (गीता ३। ३५)

भक्ति

ईश्वरकी भक्ति सबके लिये ही उपयोगी है किन्तु बालकोंके लिये तो विशेष उपयोगी है। बालकका हृदय कोमल होता है, वह जैसी चेष्टा करता है उसके अनुसार संस्कार दृढ़तासे उसके हृदयमें जमते जाते हैं। जबतक विवाह नहीं करता है तबतक वह ब्रह्मचारी ही समझा जाता है।

'ब्रह्म' परमात्माका नाम है, उसमें जो विचरता है वह भी ब्रह्मचारी है, यानी परमेश्वरके नाम, रूप, गुण और चरित्रोंका श्रवण, मनन, कीर्तनादि करना ही उस ब्रह्ममें विचरना है। इसको ईश्वरकी भक्ति एवं ईश्वरकी शरण भी कहते हैं। इसलिये हे बालको! परमात्माके नाम, रूप, गुण, चरित, प्रेम, प्रभाव, तत्त्व और रहस्यकी बातोंको महात्माओंसे सुनकर या सद्ग्रन्थोंमें पढ़कर सदा प्रेमपूर्वक हृदयमें धारण करके पालन करना चाहिये।

इस प्रकार करनेसे भगवान्के गुण, प्रभाव, तत्त्व और

रहस्यको जानकर सुगमतासे मनुष्य भगवान्‌को प्राप्त हो सकता है। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥
(१०।९)

'निरन्तर मेरेमें मन लगानेवाले (और) मेरेमें ही प्राणोंको अर्पण करनेवाले (भक्तजन) सदा ही (मेरी भक्तिकी चर्चाके द्वारा) आपसमें मेरे प्रभावको जानते हुए तथा (गुण और प्रभावसहित) मेरा कथन करते हुए ही सन्तुष्ट होते हैं और (मुझ वासुदेवमें ही) निरन्तर रमण करते हैं।'

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥
(गीता १०।१०)

'उन निरन्तर मेरे ध्यानमें लगे हुए (और) प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको (मैं) वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ (कि) जिससे वे मेरेको (ही) प्राप्त होते हैं।'

ध्रुवका नाम संसारमें प्रसिद्ध ही है, जब उनकी पाँच वर्षकी अवस्था थी, तब एक समय ध्रुवजी पिताकी गोदमें बैठने लगे। तब गर्वसे भरी हुई रानी सुरुचि राजाके सामने ही सौतेले पुत्र ध्रुवसे ईर्ष्यासे भरे हुए वचन बोली—'हे ध्रुव! तुम राजाकी गोदमें बैठने और राज्य-शासन करनेके अधिकारी नहीं हो,

क्योंकि तुम्हारा जन्म मेरे गर्भसे नहीं हुआ है। यदि राजाके आसनपर बैठनेकी इच्छा हो तो तप करके ईश्वरकी आराधना करो, और उस ईश्वरके अनुग्रहसे मेरे गर्भसे जन्म ग्रहण करो।

सौतेली माताके कहे हुए ये कटु वचन बालक ध्रुवके हृदयमें बाणकी तरह चुभ गये। तदनन्तर ध्रुवजी वहाँसे रोते हुए अपनी जननी सुनीतिके पास गये। सुनीतिने देखा ध्रुवकी आँखोंमें आँसू भर रहे हैं। ध्रुव रुदन करता हुआ लंबे-लंबे श्वास ले रहा है तब सुनीतिने उसे उठाकर गोदमें ले लिया। इतनेहीमें दासोंने आकर सब वृत्तान्त ज्यों-का-त्यों कह सुनाया। तब सौतके वाक्योंको सुनकर सुनीतिको बड़ा दुःख हुआ और उसके वचनोंको सुनकर वह आँसूकी वर्षा करने लगी। सुनीतिके दुःखसागरका पार न रहा। तब वह ध्रुवसे बोली—'बेटा! इस विषयमें दूसरोंको दोष देना ठीक नहीं क्योंकि यह सब अपने पूर्वमें किये हुए कर्मोंका फल है। तू मुझ अभागिनीके गर्भसे जन्मा है। बेटा! मैं अभागिनी हूँ क्योंकि मुझे दासी मानकर भी अंगीकार करनेमें राजाको लज्जा आती है। तुम्हारी सौतेली माता सुरुचिने बहुत ही ठीक कहा है। तुम्हें यदि उत्तम (सुरुचिके पुत्र) के समान राज्यासन पानेकी इच्छा है तो हरि भगवान्‌के चरणकमलकी आराधना करो। बेटा, मैं भी यही कहती हूँ। तुम ईर्ष्या छोड़कर शुद्ध चित्तसे भक्तवत्सल हरिके चरणोंकी शरण ग्रहण करो। उस भगवान्‌के सिवा तुम्हारे दुःखको दूर करनेवाला संसारमें कोई भी नहीं है।' इस प्रकार माताके

वचनोंको सुनकर ध्रुवने अपनी बुद्धिसे अपने मनमें धीरज धारण-कर माताका कहा पूरा करनेके लिये पिताके पुरसे वनकी तरफ चले गये ।

नारद मुनि अपने योगबलसे यह सब वृत्तान्त जान गये, तब वे राहमें आकर ध्रुवसे मिले और अपना हाथ उसके मस्तकपर रखकर बोले—'हे बालक ! तुम्हारा मान या अपमान क्या ? यदि तुम्हें मान-अपमानका खयाल है तो सिवा अपने कर्मके और किसीको दोष नहीं देना चाहिये । मनुष्य अपने कर्मके अनुसार सुख, दुःख, मान-अपमानको पाता है । सुखके पानेपर पूर्वकृत पुण्योंका क्षय और दुःखको पानेपर पूर्वकृत पापोंका क्षय होता है । ऐसा जानकर चित्तको सन्तुष्ट करो । गुणोंमें अपनेसे अधिकको देखकर सुखी होना एवं अधमको देखकर उसपर दया करना और समान पुरुषसे मित्रता रखनी चाहिये । इस प्रकार करनेसे मनुष्यके पीड़ा और ताप नहीं होते । तुम जिस योगेश्वरको योगसे प्रसन्न करना चाहते हो वह ईश्वर अजितेन्द्रिय पुरुषद्वारा प्राप्त होना कठिन है अतएव ऐसा विचार छोड़ दो ।' तब ध्रुवने कहा—'हे भगवन् ! आपने जो कृपा करके शान्तिका मार्ग दिखलाया इसको मेरे-जैसे अज्ञानीजन नहीं कर सकते । मैं क्षत्रिय-स्वभावके वश हूँ इसलिये नम्रता एवं शान्ति मुझमें नहीं है । हे ब्रह्मन् ! मैं उस पदको चाहता हूँ जिसको मेरे बाप-दादा नहीं प्राप्त कर सके । त्रिभुवनमें सबसे श्रेष्ठ पदपर पहुँचनेका सुगम मार्ग बतलाइये ।'

भगवान् नारद ध्रुवके ऐसे वचन सुनकर उनकी दृढ़ प्रतिज्ञाको देखकर प्रसन्न हुए और बोले 'हे पुत्र ! तुम्हारी माताने जो उपदेश दिया है—उसी प्रकार तुम हरि भगवान्‌को भजो और अपने मनको शुद्ध करके हरिमें लगाओ, क्योंकि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों पदार्थोंके मिलनेका सरल उपाय एक हरिकी सेवा ही है। हे पुत्र ! तुम्हारा कल्याण हो ! तुम यमुनाके तटपर स्थित मधुवन (मथुरा) में जाओ, जहाँ सर्वदा हरि भगवान् वास करते हैं। वहाँ यमुनाके पवित्र जलमें स्नान करके आसनपर बैठ, स्थिर मनसे हरिका ध्यान करना चाहिये। भगवान् सम्पूर्ण देवताओंमें सुन्दर हैं, उनके मुख और नेत्र प्रसन्न हैं, उनकी नासिका, भौंहें, कपोल, परम सुन्दर और मनोहर हैं। उनकी तरुणावस्था है, उनके अंग रमणीय, ओष्ठ, अधर और नेत्र अरुणवर्ण हैं। हृदयमें भृगुलताका चिह्न है, शरीरका वर्ण मेघके समान श्याम और सुन्दर है। गलेमें वनमाला, चारों भुजाओंमें शंख, चक्र, गदा और पद्म लिये हुए हैं। मुकुट, कुण्डल, कंकण और केयूर आदि अमूल्य आभूषण धारण किये हुए हैं। रेशमी पीताम्बर धारण किये हुए और गलेमें कौस्तुभ मणि है। कटिमें कञ्चनकी करधनी और चरणोंमें सोनेके नूपुर पहने हुए हैं, दर्शनीय शान्त मूर्ति हैं। जिनके देखनेसे मन और नेत्र सुखी होते हैं। वे मन्द-मन्द मुस्कुरा रहे हैं, प्रेमभरे चितवनसे देख रहे हैं। देखनेसे जान पड़ता है मानो वे वर देनेके लिये तैयार हैं। वे शरणागतके प्रतिपालक

एवं दयाके सागर हैं। इस प्रकार कल्याणरूप भगवान्‌के स्वरूप-का ध्यान करते रहनेपर मनको अनूठा आनन्द मिलता है, फिर मन उस आनन्दको छोड़कर कहीं नहीं जा सकता। भगवान्‌में तन्मय हो जाता है और हे राजकुमार! मैं तुमको एक परम गुप्त मन्त्र बतलाता हूँ उसका जप करना। वह "ॐ नमो भगवते वासुदेवाय" यह बारह अक्षरका मन्त्र है। इस मन्त्रको पढ़कर पवित्र जल, माला, वनके फूल, मूल, दूर्वा और तुलसीके दल आदिसे भगवान्‌की पूजा करनी चाहिये।

मनको वशमें करके मनसे हरिका चिन्तन करना, शान्त स्वभावसे रहना, वनके फल-मूल आदिका थोड़ा आहार करना, भगवान्‌के चरित्रोंका हृदयमें ध्यान करते रहना और इन्द्रियोंको विषयभोगोंसे निवृत्त करके भक्तियोगद्वारा अनन्यभावसे भगवान् वासुदेवका भजन करना चाहिये।'

देवर्षि नारदका यह उपदेश सुनकर राजकुमार ध्रुवने नारदजीकी प्रदक्षिणा करके प्रणाम किया, फिर उनसे विदा होकर मधुवनको चले गये।

ध्रुवने मधुवनमें पहुँचकर स्नान किया और उस रातको व्रत किया। उसके बाद एकाग्र होकर देवर्षिके उपदेशके अनुसार भगवान्‌की आराधना करने लगा।

पहले-पहल बेरके फल खाकर, फिर सूखे पत्ते खाकर तदनन्तर जल पीकर, फिर वायु भक्षण करके ही उन्होंने समय

बताया। फिर पाँचवें महीनेमें राजकुमार ध्रुव श्वासको रोककर एक पैरसे निश्चल खड़े हो हृदयमें स्थित भगवान्‌का ध्यान करने लगे। मनको सब ओरसे खींचकर हृदयमें स्थित भगवान्‌के ध्यानमें लगा दिया। उस समय ध्रुवको भगवान्‌के स्वरूपके सिवा और कुछ भी नहीं देख पड़ा।

तदनन्तर भगवान् भक्त ध्रुवको देखनेके लिये मथुरामें आये। ध्रुवकी बुद्धि ध्यानयोगसे दृढ़ निश्चल थी। वह अपने हृदयमें स्थित बिजलीके समान प्रभाववाले भगवान्‌के स्वरूपका ध्यान कर रहे थे। उसी समय सहसा भगवान्‌की मूर्ति हृदयसे अन्तर्धान हो गयी। तब ध्रुवने घबड़ाकर नेत्र खोले तो देखा वैसे ही रूपसे सामने भगवान् खड़े हैं। उस समय ध्रुवने मारे आनन्दके आश्चर्ययुक्त हो, भगवान्‌के चरणोंमें साष्टांग प्रणाम किया। फिर मानो नेत्रोंसे पी लेंगे, मुखसे चूम लेंगे, भुजाओंसे लिपटा लेंगे, इस भाँति प्रेमसे ध्रुव हरि-को देखने लगे। ध्रुव अञ्जलि बाँधकर खड़े हुए और हरिकी स्तुति करना चाहते थे पर पढ़े-लिखे न होनेके कारण कुछ स्तुति न कर सके। इस बातको अन्तर्यामी भगवान् जान गये और उन्होंने अपना शंख ध्रुवजीके गाल (कपोल) से छुआ दिया, उसी समय ध्रुवजीको तत्त्वज्ञान और अभयपदकी प्राप्ति हो गयी और ध्रुवजीको बिना पढ़े ही ईश्वरकी कृपासे वेद और शास्त्रोंका ज्ञान हो गया, फिर वह धीरे-धीरे भक्तिभावपूर्वक सर्वव्यापी दयासागर भगवान् हरिकी स्तुति करने लगे।

तब भक्तवत्सल भगवान् प्रसन्न होकर बोले 'हे राजकुमार ! तुम्हारा कल्याण हो। मेरी कृपासे तुम्हें ध्रुवपद मिलेगा, वह लोक परम प्रकाशयुक्त है, कल्पान्तपर्यन्त रहनेवाले लोकोंके नाश होनेपर भी उसका नाश नहीं होता। उसको सब लोक नमस्कार करते हैं। वहाँ जाकर योगीजन फिर इस संसारमें लौटकर नहीं आते, तथा यहाँ भी तुम्हें तुम्हारे पिता राज्य देकर वनमें चले जायँगे। तुम छत्तीस हजार वर्षपर्यन्त पृथ्वीपर राज्य करोगे किन्तु तुम्हारा अन्तःकरण मेरी कृपासे विषयभोगोंमें लिप्त न होगा। इस प्रकार भगवान् ध्रुवको वर देकर ध्रुवके देखते-देखते ही अपने लोकको चले गये।

प्रह्लाद तो भक्तशिरोमणि थे ही, उनकी तो बात ही क्या है—हे बालको ! जब प्रह्लाद गर्भमें थे तभी नारदजीने उनको भक्तिका उपदेश दिया था। उसीके प्रभावसे वह संसारमें भक्त-शिरोमणि हो गये। प्रह्लादके पिताने प्रह्लादको मारनेके लिये जलमें डुबाना, पहाड़से गिरा देना, विष देना, सर्पोंसे डसवाना, हाथीसे कुचलवाना, शस्त्रोंसे कटवाना, आगमें जलाना आदि अनेकों उपचार किये किन्तु प्रह्लादका बाल भी बाँका न हुआ। यह सब भगवत्-भक्तिका प्रभाव है। इतना ही नहीं, जब हिरण्यकशिपु स्वयं हाथमें खड्ग लेकर मारनेके लिये उद्यत हुआ तब कृपासिन्धु प्रेमी भगवान्से रहा नहीं गया—वे खम्भ फाड़कर स्वयं प्रकट ही हो गये और हिरण्यकशिपुको मारकर प्रह्लादसे बोले—'हे

वत्स ! मेरे आनेमें विलम्ब हो गया है। मेरे कारण तुझे बहुत कष्ट सहन करना पड़ा है। इसलिये मेरे अपराधको क्षमा करना चाहिये।' किन्तु प्रह्लाद तो भक्तशिरोमणि थे भला वह भगवान्‌का अपराध तो समझ ही कैसे सकते थे, वह तो विलम्बमें भी दयाका ही दर्शन करते थे।

तदनन्तर प्रह्लादने भगवान्‌की स्तुति की। तब प्रसन्न होकर भगवान् बोले—'हे प्रह्लाद ! तुम्हारा कल्याण हो। मैं तुमपर प्रसन्न हूँ जो चाहो वर माँगो। मैं ही मनुष्योंकी सब कामनाएँ पूर्ण करनेवाला हूँ।' तब प्रह्लाद बोले—हे भगवन् ! मेरी जाति स्वभावतः कामासक्त है, ये सब वर दिखलाकर मुझको प्रलोभन न दीजिये। जो व्यक्ति आपके दुर्लभ दर्शन पाकर आपसे सांसारिक सुख माँगता है वह भृत्य नहीं, व्यापारी है। हे भगवन ! कामसे बहुत ही अनिष्ट होते हैं, कामना उत्पन्न होनेसे इन्द्रिय, मन, प्राण, देह, धर्म, धीरज, बुद्धि, लज्जा, सम्पत्ति, तेज, स्मृति एवं सत्यका विनाश होता है। इसलिये हे ईश ! हे वर देनेवालोंमें श्रेष्ठ ! आप यदि मुझको मनचाहा वर देते ही हैं तो यही वर दें कि मेरे हृदयमें अभिलाषाओंका अङ्कुर ही न जमे। मैं आपसे यही वर माँगता हूँ।

हे बालको ! खयाल करो ! प्रह्लाद भक्तिके प्रतापसे दैत्यकुलमें जन्म लेकर भी भगवान्‌के अनन्य निष्कामी भक्त-शिरोमणि बनकर परमपदको प्राप्त हो गये। प्रह्लादकी भक्तिका यह स्वरूप है।

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥
(श्रीमद्भा० ७।५।२३)

'भगवान् विष्णुके नाम, रूप, गुण, लीला और प्रभावादिका श्रवण, कीर्तन और स्मरण तथा भगवान्की चरण-सेवा, पूजन और वन्दन एवं भगवान्में दासभाव, सखाभाव और अपनेको समर्पण कर देना।'

यदि ऐसा न बने तो केवल भगवान्के नामका जप और उसके स्वरूपका पूजन और ध्यान करनेसे भी अति उत्तम गतिकी प्राप्ति हो सकती है।

भगवान्के हजारों नाम हैं। उनमेंसे जो आपको रुचिकर हो, उसीका जाप कर सकते हैं और उनके अनेक रूप हैं, उनमें आप, साकार या निराकार जो रूप प्रिय हो, उसीका पूजन और ध्यान कर सकते हैं। किन्तु वे सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान्, प्रेम, दया आदि गुणोंके सागर हैं। इस प्रकार उसके गुण और प्रभावको समझकर ही पूजा और ध्यान करना चाहिये। यदि ध्यान और पूजा न हो सके तो केवल उसके नामका जप ही करना चाहिये। केवल उसके नामका जप करते-करते ही उसकी कृपासे अपने-आप ध्यान लग सकता है। नामका जप निष्काम भावसे श्रद्धा और प्रेमपूर्वक नित्य-निरन्तर मनके द्वारा करनेसे मनुष्य बहुत शीघ्र सब पाप, अवगुण और दुःखोंका नाश होकर सम्पूर्ण सद्-

गुण और आचरण अपने-आप प्राप्त होकर शीघ्र ही धर्मात्मा बन जाता है और उसे परमानन्द और नित्य शान्तिकी प्राप्ति हो जाती है।

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
(गीता ९।३०)

'यदि अतिशय दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भक्त हुआ मेरेको निरन्तर भजता है वह साधु ही माननेयोग्य है क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है।'

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥
(गीता ९।३१)

'वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है, हे अर्जुन! (तू) निश्चयपूर्वक सत्य जान, मेरा भक्त नष्ट नहीं होता।'

क्योंकि भगवान्‌के नामका जप सब यज्ञोंसे उत्तम है एवं भगवान्‌ने अपना स्वरूप बतलाया है—

'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि।' (गीता १०।२५)

तथा मनुजीने नामकी प्रशंसा करते हुए सारे यज्ञोंमें जप-यज्ञको ही सबसे बढ़कर बताया है—

विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः ।
उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः ॥
(२ । ८५)

'विधियज्ञ (अग्निहोत्रादि) से जपयज्ञ दशगुना बढ़कर है और उपांशु जप * विधियज्ञसे सौगुना और मानसजप हजारगुना बढ़कर कहा गया है ।'

ये पाकयज्ञाश्चत्वारो विधियज्ञसमन्विताः ।
सर्वे ते जपयज्ञस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥
(मनु० २ । ८६)

'जो विधियज्ञसहित चार पाकयज्ञ (वैश्वदेव, होम, नित्य श्राद्ध और अतिथिभोजन) हैं वे सब जपयज्ञको सोलहवीं कलाके बराबर भी नहीं हैं ।'

इसलिये और कुछ भी न बने तो उस भगवान्‌के गुण और प्रभावको समझकर उसके स्वरूपका ध्यान अथवा केवल नामका जप तो अवश्य ही सदा-सर्वदा करना ही चाहिये ।



* दूसरे मनुष्यको सुनायी नहीं दे सके इस तरह उच्चारण करके किया जानेवाला जप उपांशु कहलाता है ।